गिजुभाई-ग्रन्थमाला-12
मोंटेसरी-पद्धति
(प्रथम खण्ड)
गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला–१२

मोंटेसरी पद्धति

(प्रथम खण्ड)

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) ३३१ ८०२

दक्षिणामूर्ति बाल मन्दिर
भावनगर–364 002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
मूंधड़ा फाउंडेशन
कलकत्ता

प्रकाशन-वर्ष : 1990
प्रतियां : 1100
मूल्य : पचीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्य-शाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से एक बार हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक और पूर्व मध्यभारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक **मोंटेसरी पद्धति** के दोनों भाग के प्रथम संस्करण का व्यय भार शिक्षा, साहित्य, संस्कृति के उन्नयन में रुचि लेने वाले बीकानेर के प्रमुख दानवीर श्री माधवदास मूंधड़ा के सद्प्रयासों से मूंधड़ा फाउंडेशन कलकत्ता ने सहर्ष वहन किया है, और शिक्षकों-अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन का माध्यम बना है। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए गुजरात के महान साहित्यकार, शिक्षाविद, भू. पू. शिक्षा मंत्री तथा प्रख्यात गांधीवादी चिंतक श्री मनुभाई पंचोळी 'दर्शक' का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ।

पिछले दिनों राजस्थान सरकार ने 'दिवास्वप्न' और 'बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया' की पांच-पांच हजार प्रतियां ऑपरेशन-ब्लैकबोर्ड के अंतर्गत खरीदकर अपने विद्यालयों को भेजी। मुझे खुशी है कि शिक्षा विभाग ने हमारे प्रकाशन कार्य की उपयोगिता को समझा।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति **—कुन्दन बैद**
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हल्का ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुःखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. माँ-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने लगी हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हल्का हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रंथमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है!

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव–पीपल्याराव,
इन्दौर–452001

भूमिका

शान्ति की कुन्जी

बीसवीं सदी की चिरस्मरणीय शोधों में से एक है मोंटेसरी पद्धति का बाल-शिक्षण।

एटमबम के आविष्कार के बाद दुनिया भर के लोग बार-बार कहते रहे कि इस सर्वनाशी बम को समाप्त करने व इसे निष्क्रिय बनाने के उपाय खोजना आज के संसार की एक मूलभूत समस्या है। यह एक ऐसा आविष्कार है कि इसके रहते मानव संस्कृति का अस्तित्व जब चाहे जोखिम में पड़ सकता है।

इसीलिए आणविक-अस्त्रों को बंद करने की मांग की गई। गांधीजी ने इसका एकमात्र उपाय अहिंसा बताया था।

पर बुनियादी प्रश्न यह था कि मनुष्य अपने सहज स्वभाव से अहिंसक कैसे बने ?

मनुष्य के हिंसक बनने और आक्रामक वृत्ति ग्रहण करने के पीछे आनंद लेने की भावना को एक खास कारण गिना जाता है। मनुष्य मान कर चलता है कि दूसरों पर आक्रमण करने से उसे आनंद की प्राप्ति होगी।

आक्रामक वृत्ति के पीछे एक और कारण है अपमानित महसूस करना। वह स्वयं को असुरक्षित अनुभव करता है। उसके और उसके समुदाय के अस्तित्व को आदरपूर्वक स्वीकार नहीं किया जाता, यह भी एक कारण है।

मेरिया मोंटेसरी ने अपने पूर्ववर्ती शिक्षाविदों—रूसो तथा पेस्तोलोजी की भांति मनुष्य में आक्रामक वृत्ति की जड़ों को बाल्यावस्था में बालकों को मिलने वाले व्यवहार में तलाश किया था।

सभी प्राणियों में बाल्यकाल के वर्ष या समय महत्त्व के हैं। वनस्पति के पौधे को भी अगर आरंभ में समुचित पोषण नहीं मिलता और वह ठिगना रह जाता है तो बाद में मिलने वाला पोषण उसके लिए अधिक मददगार सिद्ध नहीं होता। यह बात सभी किसान और कृषिकर्मी जानते हैं। इसीलिए वे बुवाई से पहले और बुवाई के बाद इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि पौधे को पानी, खाद, हवा-प्रकाश की पर्याप्त सुविधा मिले। इसके वास्ते वे निनाण करते हैं, पौधों की दो कतारों के बीच समुचित फासला रखते हैं, और खाद-पानी देते हैं– फिर भले ही वह फसल धान की हो या ज्वार-बाजरे की, आम का पौधा हो या चीकू का, बड़ा हो जाने पर वह अपने आप अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है। रेगिस्तान में थोर के झुण्ड पनप सकते हैं लेकिन शुरू की अवस्था में वे भी निर्बल ही रहते हैं।

मोंटेसरी ने अत्यन्त व्यवस्थित रीति से यह बात समझाने का प्रयत्न किया था कि शिक्षण में शुरुआत के वर्ष—3 से 7 वर्ष की आयु का काल अधिक महत्त्व रखता है। इसी अवधि में बालक को भय, अभाव, असुरक्षा, अपमान आदि मिलते हैं। उसमें आक्रामक वृत्ति के मूल होते हैं। तभी से हिंसा की जड़ें जमनी शुरू होती हैं।

इसी अवधि में, याने बचपन के उक्त प्रारंभिक वर्षों में अगर बालक को आदर मिलता है, उसकी जरूरतों के अनुरूप सृजनशीलता की सामग्री मिलती है, निर्भय वातावरण मिलता है तो जाहिर है उसे आनंद व संतोष की प्राप्ति होती है। धीरे-धीरे बालक की सृजनशील प्रवृत्ति और सुरक्षा के वातावरण में आनंद, संतोष व सहयोग स्थायीभाव बन जाते हैं। ऐसी पीढ़ी कलह और आक्रमण को नापसंद करती है।

इस अर्थ में मोंटेसरी पद्धति शांति की कुञ्जी है। अणुबम से बचाव का दीर्घकालिक विकल्प है।

मोंटेसरी की दूसरी विशेषता है बाल-शिक्षण की बहुविध रोचक प्रवृत्तियां और शिक्षण-उपकरणों की वैज्ञानिकता।

उत्तम से उत्तम विचार और भावनाएं शिक्षण की श्रेष्ठ पद्धति के अभाव में निरर्थक रह जाती हैं। इस दृष्टि से मोंटेसरी पद्धति सौभाग्यशाली है।

डाक्टरी-विद्या की विशेषज्ञा होने की वजह से डॉ. मोंटेसरी ने देखा था कि व्यक्ति के गलत निर्णयों के मूल में बहुधा अस्वच्छ व अकार्य-कुशल इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त वृत्तांत होते हैं। गलत वृत्तांत गलत परिणामों की ओर ले जाते हैं। संवेदनशील वय में यह सब घटित हो जाता है।

इसलिए डॉ. मोंटेसरी ने इन्द्रिय शिक्षण—उंगलियों के सिरों, कान, पैरों की एड़ी, त्वचा की स्पर्श-शक्ति, आंख की अंतर-परखने की शक्ति आदि को संस्कारित व प्रशिक्षित करने के लिए त्रुटिरहित, क्रमिक उपकरण (साधन) खोज निकाले।

एक अर्थ में सही-साधन साध्य से भी बढ़कर कहीं ज्यादा जरूरी है, यह तथ्य इससे चरितार्थ हुआ है।

हमारा अनुभव है कि मोंटेसरी-पद्धति के साधनों में, स्वतन्त्रता, स्वयं-स्फूर्ति व निर्भयता के वातावरण में अनगिनत बालक सृजनात्मक प्रवृत्ति में लीन होते गए। बाल-मंदिरों के शिक्षकों और कार्यकर्त्ताओं ने बालकों को घण्टों तलक इन प्रवृत्तियों में निमग्न देखा है।

रचनात्मक प्रवृत्तियों से प्राप्त होने वाला आनंद बालकों के चेहरों पर, उनकी आवाज में, उनकी चाल में और मेल-मुलाकात में साफ देखने में आता है। इन्हीं प्रवृत्तियों और संलग्नता से उनकी भाषा की, गणित और विज्ञान की शक्तियां धीरे-धीरे प्रस्फुटित होने लगती हैं।

शिक्षण की ऐसी विरल—बहुमूल्य खोज को गिजुभाई ने गुजरात में अवतरित किया था। उसमें उन्होंने अपनी जमीन के अनुरूप नन्हें-नन्हें परिवर्तन भी किये थे। यही नहीं, एक 'एपोस्टल' की भांति अनन्य उत्साह और बुलन्द स्वर में उन्होंने बाल-शिक्षण के इस विचार को गुजरात में ही नहीं अपितु अन्य राज्यों तक प्रवाहित कर दिया।

गिजुभाई द्वारा बाल-शिक्षण में प्रशिक्षित किये गए उनके अनेक शिष्य गुजरात में ही नहीं, पूर्वी अफ्रीका तक जा पहुंचे और वहां उन्होंने बाल-मन्दिरों की शानदार श्रृंखला निर्मित कर डाली। अगर हम गांधीजी के आंदोलन को क्षण भर के लिए भूल जाएं तो कहना न होगा कि गुजरात में दूसरा कोई आंदोलन इतना लोकस्पर्शी नहीं बन पाया था, जितना गिजुभाई के बाल-शिक्षण और बाल-मंदिरों की स्थापना का।

यह सारा श्रेय गिजुभाई को जाता है। नानाभाई ने उनकी पीठ थपथपाई थी और संस्था ने उन्हें स्वतंत्रता प्रदान की थी, पर गिजुभाई ने दक्षिणामूर्ति और नानाभाई को सवाया काम करके दिखा दिया।

मध्यप्रदेश में श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने उनके काम को अपने कंधों पर उठाया। राजस्थान में भी उन्हें समादर मिला— वहां भी बाल मंदिर और बाल विद्यालय स्थापित हुए।

भाई रामनरेश सोनी और राजलदेसर की मोंटेसरी बाल शिक्षण संस्था के कार्यकर्त्ताओं ने गिजुभाई द्वारा लिखित शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी में अनुवाद करवा कर ग्रंथमाला प्रकाशित करने का जो संकल्प लिया है, वह अभिनंदनीय है। इसमें पाठक यह देखेंगे कि परायी जमीन के विचारों की अपनी जमीन के साथ कैसे कलम लगाई जा सकती है। पर बुनियाद में तो 'मोंटेसरी पद्धति' ही है। इसका अनुवाद प्रकाशित किया जाना श्रेष्ठ कार्य होगा।

हिन्दी-भाषी प्राथमिक शिक्षक और बाल-शिक्षण-प्रेमी इसमें शांति की कुञ्जी का अवलोकन करेंगे, ऐसी कामना करता हूँ।

—मनुभाई पंचोळी 'दर्शक'

लोक भारती,
सणोसरा 364 230 (जिला भावनगर)
गुजरात

गिजुभाई का जीवन वृत्त

1885 15 नवम्बर को जन्म, जन्म स्थान चित्तल, सौराष्ट्र
1897 प्रथम विवाह स्व. हरिबेन के साथ
1906 द्वितीय विवाह श्रीमती जड़ी बेन के साथ
1907 पूर्वी अफ्रीका प्रस्थान
1909 स्वदेश आगमन
1910 बम्बई में कानून की पढ़ाई
1913 हाई कोर्ट प्लीडर, बढ़वाण केम्प
1913 श्री नरेन्द्र भाई का जन्म
1915 श्री दक्षिणामूर्ति भवन के कानूनी सलाहकार
1916 श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन से जुड़े
1920 बाल मन्दिर की स्थापना
1922 भावनगर में तख्तेश्वर महादेव मन्दिर के समीप टेकड़ी पर बने बाल-मन्दिर भवन का उद्घाटन पूज्या कस्तूरबा गांधी के कर-कमलों से
1925 प्रथम मोंटेसरी सम्मेलन, भावनगर
1925 प्रथम अध्यापन मन्दिर स्थापित
1928 द्वितीय मोंटेसरी सम्मेलन अहमदाबाद की अध्यक्षता
1930 सत्याग्रह संग्राम में : शरणार्थी शिविरों में निवास, वानर परिषद सूरत, अक्षरज्ञान योजना प्रारम्भ
1936 श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन से मुक्त
1936 करांची में आयोजित बाल मेले के अध्यक्ष : कच्छ का प्रवास
1937 सम्मान थैली भेंट
1938 गुजरात का प्रवास—राजकोट में अन्तिम अध्यापन मन्दिर शुरू किया
1939 23 जून को बम्बई में देहावसान

मोंटेसरी पद्धति

प्रकरण पहला

डॉ. मेरिया मोंटेसरी

यदि हम यूरोप की शिक्षा के इतिहास को देखें या वहां के यशस्वी शिक्षाविदों की सूची पर नजर डालें तो पता लगेगा कि उसमें एक भी महिला-शिक्षाविद् का नाम नहीं है। सबसे पहली एक महिला-शिक्षाविद् को जन्म देने का श्रेय इटली को है। डॉ. मोंटेसरी के रूप में हमें एक नृवंशवेत्ता, शरीर-विज्ञानी, मनोविज्ञानी, तत्त्ववेत्ता एवं शिक्षाविद्—इन समस्त विशेषताओं के एक ही साथ दर्शन होते हैं। ये बालक और बाल-मस्तिष्क की विशेषज्ञ हैं। अविवाहिता होते हुए भी ये माताओं की माता और बालकों के लिए विद्यादात्री महान सरस्वती माता हैं। बालकों की स्वतंत्रता के युग का प्रवर्त्तन करने वाली तथा जड़ता व गुलामी की बेड़ी से मानव-जाति को उबारने का प्रारंभिक अभियान छेड़ने वाली डॉ. मेरिया मोंटेसरी ही हैं।

मोंटेसरी मध्यवित्तीय परिवार में जन्मी संस्कारी माता-पिता की एकमात्र पुत्री हैं। इनका जन्म इटली के स्वाधीनता-संग्राम के अंतिम दिनों में सन् 1870 में हुआ था। उस युग में इटली का तत्कालीन समाज अत्यंत संकुचित था। वहाँ के परिवारों में व्यवसायों से या परंपरा से शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध तक नहीं था। उन दिनों स्त्रियां शायद ही पढ़ती थीं। यही कारण था कि इस प्रतिभाशाली विद्यार्थिनी को सामाजिक बंधनों का सामना करना

पड़ा था और एक समाज-सुधारक के नाते आगे आना पड़ा था। आगे चलकर इन्होंने सम्पूर्ण विश्व के बालकों को स्वतंत्रता की जो अमूल्य भेंट अर्पित की थी, उसी स्वतंत्रता की इन्होंने अपने बाल्य-काल से सतत उपासना की थी। लोक में व्याप्त जड़ धारणाओं को तोड़ने के लिए व्यक्ति में जिस आत्म-बल और आत्म-विश्वास की आवश्यकता है, वह बल और विश्वास डॉ. मोंटेसरी में प्रारंभ से ही मौजूद था। तभी तो ये अनेक विरोधों के समक्ष टिकी रह सकी और परिणामत: सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख एक अपूर्व आशीर्वाद बनकर खड़ी रह सकीं।

ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही इनके भीतर कुछ काम कर गुजरने की उत्कंठा जागी थी। इटली में स्त्रियों का दर्जा निम्न समझा जाता था। अधिकांशत: महिलाएं मात्र अध्यापन व्यवसाय के योग्य समझी जाती थीं और उसी से जुड़ती थीं, क्योंकि तात्कालिक समाज नारी जाति का अन्य व्यवसायों में प्रवेश सहन नहीं कर सकता था। इसी से मेरिया मोंटेसरी ने भी पहले तो अध्यापन व्यवसाय से ही जुड़ने का निर्णय लिया, पर वस्तुत: तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में इनकी वृत्ति रमी नहीं और इन्होंने तत्काल इंजीनियरिंग का अध्ययन करना शुरू कर दिया।

अपने उस विद्यालय में ये अकेली छात्रा थीं। अतएव इन्हें विद्यार्थियों के बीच रहते हुए अध्ययन करने की अनेक तकलीफें झेलनी पड़ीं। इनकी मां इन्हें सुबह स्कूल पहुंचा जातीं और शाम को पिताजी लेने आ जाते। कक्षा में इनको लड़कों की पंक्ति से अलग बैठना पड़ता और भोजन या विश्राम के समय में शाला के किसी कमरे में जाकर बैठना पड़ता, जहां द्वार पर पुलिसमैन की चौकीदारी रहती। पर ये सारी तकलीफें इस छात्रा के दिमाग में थी ही नहीं, क्योंकि इसने अपना लक्ष्य गणितशास्त्र में रुचि लेकर

अध्ययन करना तय कर रखा था। शाला तो मात्र एक साधन थी। इस शाला में पढ़ाई करके ये एक समर्थ गणितशास्त्री बनीं। आगे चलकर इनका मन डॉक्टरी व्यवसाय की तरफ आकर्षित हुआ। इटली में उन दिनों डॉक्टरी पढ़ाई करने हेतु महिला विद्यार्थिनी के रूप में बाहर आने वाली प्रथम महिला मेरिया मोंटेसरी ही थीं। लोकमत इनके विरुद्ध था, तथापि छात्रों की शाला में अनेक प्रकार की कठिनाइयों के बीच भी इन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा और डॉक्टरी की लंबी एवं कठिन पढ़ाई करके रोम विश्वविद्यालय से एम. डी. की उपाधि प्राप्त की।

एम. डी. की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् सन् 1897 में मस्तिष्क-रोगियों के एक अस्पताल में सहायक-चिकित्सक के रूप में इनको नियुक्ति मिली। विकसित देशों की श्रेणी में आने के लिए अभी इटली संघर्ष कर रहा था। इस नाते वहां अनेक ऐसी विकासमान संस्थाओं की स्थापना होने लगी थी। ऐसे में तात्कालिक व्यवस्था करने की दृष्टि से उस अस्पताल में पागलों के साथ-साथ मूढ़ एवं मंदबुद्धि बालकों को भी रखा गया था। युवा एवं उत्साही डॉक्टर मेरिया मोंटेसरी ने बालकों की व्याधियों का गहन अध्ययन करके इस विषय में विशेष दक्षता अर्जित कर रखी थी। इस पागलखाने में जाने पर इनका ध्यान उन मंदबुद्धि एवं मूढ़ बालकों की तरफ गया, जिन्हें दुर्भाग्यवश पागलों के साथ रखा गया था। इन्होंने मूढ़ एवं मंदबुद्धि बालकों को सुधारने की दिशा में सेगुइन द्वारा पचास वर्ष पूर्व व्यवहृत पद्धति का गंभीर अध्ययन करना शुरू किया। सेगुइन के विचारों को ग्रहण करने पर इन्होंने अनुभव किया कि बालकों में जो मंदता है, उसका इलाज औषधि नहीं अपितु शिक्षण है। अपने इन विचारों को इन्होंने सन् 1898 में टूरीन में आयोजित शिक्षा-परिषद् में व्यक्त किया। इनके भाषण से शिक्षा जगत में एक नई रोशनी फूटी, एक

नयी जाग्रति आई। मूढ़ बालकों को कैसे समझा जाए और कैसे उनको नवीन पद्धति से शिक्षित किया जाए, इस विषय पर व्याख्यान देने के लिए रोम विश्वविद्यालय के शिक्षाधिकारी ने डॉ. मोंटेसरी को वहां आमंत्रित किया। इसके बाद तो डॉ. मोंटेसरी की नियुक्ति ही मंदबुद्धि वाले व्यक्तियों को सुधारने वाली एक संस्था में शिक्षाधिकारी के पद पर हो गई। उस समय डॉ. मोंटेसरी ने अपना डॉक्टरी व्यवसाय एक तरफ रख दिया और इस नये कार्य क्षेत्र में संलग्न हो गईं। अब तक अन्य प्रवृत्ति के साथ ये डॉक्टर के रूप में अपना व्यवसाय किये जा रही थीं तथा भयंकर व्याधि से पीड़ित मरीजों को निजी रूप में अपने घर पर रखती थीं। ऐसे स्थानों पर भी ये निर्भयता से चली जाती थीं तथा आधी रात के वक्त भी आवश्यकता पड़ने पर उमंग से काम में लग जाती थीं। अपने काम में ये इतनी रुचि लेती थीं अथवा कहें, इतना ध्यान रखकर काम करती थीं कि इनके अपने काम अटक जाते थे। मरणासन्न बालक को अगर नहलाने को या स्वच्छ बिस्तर पर सुलाने की जरूरत पड़ती तो ये अन्य डॉक्टरों की तरह मात्र दवा लिख कर ही नहीं चली आती थीं। ये जानती थीं कि रोम के गरीब इलाकों में रहने वाली किसी गरीब माता को दवा की पर्ची लिख कर सौंप देना ही काफी नहीं है, इसलिए ये बालक की जरूरत की समस्त चीजें अपने यहां से मंगा लेतीं। अगर किसी रोगी को कमाई की जरूरत होती और रोगी बेरोजगार होता तो ये उसे अपने निजी खर्च पर काम लगा देतीं। किसी का दुःख इनके सामने आया नहीं कि ये तत्काल उसे दूर करने में जुट जातीं। इस तरह का एक डॉक्टरी जीवन इन्होंने व्यतीत किया था। आगे चल कर इनका यही परोपकारी स्वभाव इनकी शाला के बालकों हेतु उपादेय सिद्ध हुआ।

जिस तन्मयता से इन्होंने अपना डॉक्टरी व्यवसाय किया था उसी तन्मयता, एकाग्रता, सावधानी एवं असाधारण उद्यम से इस कार्य-क्षेत्र में अपना मन लगाया। प्रात: 8 बजे से शाम 7 बजे तक ये मंदबुद्धि बालकों को पढ़ाने के काम में संलग्न रहतीं। दिन भर दया-योग्य बालकों के उद्धार हेतु अपनी बुद्धि एवं शक्ति का भरपूर उपयोग करने के बाद रात को एक विज्ञानवेत्ता के रूप में अपने दिन भर के कार्यों की समालोचना करतीं, अपने अवलोकनों एवं कार्यों की संवीक्षा करतीं, अपने अवलोकनों से प्राप्त परिणामों का वर्गीकरण करतीं और इन विषयों से सम्बन्धित जिन-जिन विद्वानों ने ग्रंथ रचना की थी, उनके तमाम ग्रंथों का गंभीरतापूर्वक अनु-शीलन करतीं तथा यह पता लगातीं कि वे ग्रंथ उनके अपने प्रयोग में कहां, किस हद तक मददगार साबित हो सकते हैं। इस कार्य-पद्धति में ही इनकी सफलता का असली बीज, वास्तविक मर्म छिपा था। वे दिन इनके लिए पूर्ण शांति के थे। उन दिनों में ये अप्रसिद्ध थीं और दुनिया इन्हें पहचानती न थी। इसी से ये अपूर्व तल्ली-नता एवं सुखपूर्वक अपने प्रयोग कर रही थीं। उन्हीं दिनों में ये लंदन और पेरिस गईं और वहां के मूढ़ बालकों की शालाओं का अध्ययन किया। वहां प्रचलित शिक्षण पद्धतियों का अध्ययन करके अपने ज्ञान में अभिवृद्धि की तथा ईटार्ड व सेगुइन की पुस्तकों के आधार पर मंदबुद्धि बालकों को पढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण ढूंढ़ निकाले। वहां इन्होंने दो वर्षों तक (1898 से 1900) काम किया। इस काम में इनको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई।

एक बार तो ऐसा हुआ कि एक मंदबुद्धि बालक सार्वजनिक परीक्षा में सामान्य बुद्धि के बालक से ऊंचे अंकों में, ऊंचे प्रतिशत से और अधिक आसानी से उत्तीर्ण हुआ। यह बालक डॉ. मोंटेसरी

द्वारा मूढ़ बालकों हेतु निर्मित पद्धति से शिक्षित हुआ था। इसके उपरांत तो ऐसी घटनाएं बार-बार घटित होने लगीं। जितने मूढ़ बालक परीक्षा के लिए भिजवाये गये, वे सब के सब सामान्य बुद्धि वाले बालकों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठता के साथ उत्तीर्ण हुए। इन परिणामों से लोग आश्चर्य चकित हो उठे। जिन लोगों ने ये परिणाम अपनी नजरों से देखे थे, वे लोग तो इस घटना को एक जादुई बात ही मान बैठे। पर उधर डॉ मोंटेसरी इस सोच में डूबी थी कि सामान्य बुद्धि वाले बालक मूढ़, रुग्ण एवं दरिद्र बालकों की तुलना में पीछे कैसे रह गए और परीक्षा में उन्हें निम्न श्रेणी कैसे प्राप्त हुई! डॉ. मोंटेसरी के मस्तिष्क में यह विचार स्फुरित हुआ कि इस पद्धति से जब मूढ़ बालकों को इतना लाभ मिला है तो सामान्य बालकों को भी अगर इसी पद्धति से पढ़ाया जाए तो निश्चय ही वे काफी आगे निकल सकेंगे और उनकी प्रगति एक चमत्कार बन जाएगी। इन्हें समझ में आया कि जो पद्धति मंदबुद्धि बालकों के लिए व्यवहार में लाई गई थी उसमें ऐसी कोई भी बात नहीं थी जो सिर्फ इन्हीं बालकों के लिए उपयोगी हो। यह पद्धति भी शिक्षण-सिद्धांतों पर निर्मित थी और वे सिद्धांत प्रचलित सिद्धांतों की बजाय कहीं अधिक बुद्धिगम्य थे। इस विचार से इनमें एक अद्भुत विश्वास उत्पन्न हुआ, अंतर में एक नवीन दिशा में नया ही काम कर गुजरने की आत्म-स्फूर्ति पैदा हुई। तत्काल इन्होंने सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिए विद्यालय, उसकी व्यवस्था तथा शिक्षण-पद्धति का अध्ययन करने का निश्चय किया। साथ ही साथ ये रोम-विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र की छात्रा के रूप में प्रविष्ट हो गईं तथा विशेष रूप से इन्होंने प्रायोगिक मनो-विज्ञान का अध्ययन किया। इन्होंने बाल-मनोविज्ञान का भी अध्ययन किया और अंत में शिक्षा एवं नृवंशशास्त्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त की।

अब मोंटेसरी ने पुराने विद्यालयों को और वहां की सड़ी हुई पद्धति को पूरी तरह से जानने-समझने का काम शुरू किया। स्वभाव, शिक्षण एवं अनुभव से ये वैज्ञानिक थीं, इस कारण शालाओं की परिस्थिति का इन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया। शिक्षा-शास्त्र की अनेक पुस्तकें पढ़ीं और उनके मर्म को आत्मसात किया। लोम्ब्रोसो और सर्गी की पुस्तकें इन्हें पसंद आईं और उनकी इन पर गहरी छाप अंकित हुई। ये पुस्तकें उनके विचारों की निर्मिति में सहायक बनी। प्रचलित शिक्षा पद्धति के दोष एवं अपूर्णताएं इन्हें हस्तामलकवत् दिखाई दीं। आगे चल कर इन्होंने 'एडवांस्ड मोंटेसरी मैथड' वोल्युम I के 'ए सर्वे ऑफ मॉडर्न एज्युकेशन' नामक अध्याय में तत्कालीन विद्यालयों का हूबहू वर्णन किया है, जो शिक्षण से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति के लिए पठनीय है। इस प्रवृत्ति में व्यस्त रहते-रहते इन्होंने सात वर्ष बिता दिये। इसी दौरान इन्होंने ईटार्ड और सेगुइन के लेखों का व्यापक अध्ययन किया। इन लेखों की आत्मा को भली भांति समझने के लिए इन्होंने फ्रेंच भाषा से इतालवी भाषा में अविकल सरस अनुवाद किया। इन्होंने पर्याप्त अध्ययन तथा प्रचुर मनन किया। प्रचलित शालाओं के दोषों से उन्हें कैसे मुक्त किया जा सकता है, इस बारे में इन्होंने बहुत धैर्य से विचार किया। अब ये अपने मौलिक विचारों को अमल में लाने का अवसर तलाश रही थीं कि तभी इन्हें एक सुयोग मिल गया।

इटली में गरीब लोगों के लिए आवास की समस्या अत्यन्त विकट थी। वे लोग गंदगी में सड़ रहे थे। वे ऐसे खराब और संकीर्ण घरों में रहते थे कि जहां किसी भी तरह की मर्यादा का निर्वहन नहीं हो सकता था, याने जहां सहज ही नीति-भंग हो पाना संभव था। इन लोगों के लिए अपना वैयक्तिक जीवन जैसी

कोई बात नहीं रही थी। ऐसे दुखद जीवन से इन्हें मुक्ति दिलाने का विचार इटली के एक प्रतिष्ठित, विद्वान तथा देशभक्त रोमन सैनोर एडवर्डो टालमो के दिल में जागा। यह व्यक्ति स्थापत्य मंडल का अधिकारी था। उसने इस समस्या पर बहुत गंभीरता से अध्ययन किया था तथा एक योजना बनाई थी कि किस प्रकार के घर बनवाये जाएं ताकि वे लोग सुखी बन सकें। उसकी योजना और तमाम दृष्टियों से पूर्ण एवं संतोषप्रद थी, सिर्फ एक ही कठिनाई थी। कठिनाई यह थी कि ये गरीब माता-पिता जब दिन-भर अपनी आजीविका के लिए घर से बाहर रहते थे तब शाला न जाने वाले नन्हें-मुन्ने बच्चे नितांत स्वच्छंदता से घर में अकेले रह जाते थे और सुन्दर मकानों की दीवारों एवं सीढ़ियों पर बांकी- टेढ़ी लकीरें खींच कर उन्हें गंदा कर देते थे। नितांत बेकार बैठे रहने वाले बच्चे कैसी-कैसी शैतानी करके मकानों को बिगाड़ डालते हैं, यह बात जग-जाहिर है। टालमो के मन में एक विचार आया कि गंदे किये गए मकानों की मरम्मत कराने के लिए किरायेदारों से पैसे लेने की बजाय अगर उतनी ही राशि खर्च करके किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त कर दिया जाए जो उनको दिन भर तरह-तरह के खेल खिलाये और बदमाशियों से रोके, तो कितना अच्छा रहे। इसके लिए उसने हर बस्ती में बालकों के लिए एक अलग कमरे की व्यवस्था की तथा देखभाल करने वाले किसी योग्य व्यक्ति की तलाश करने लगा।

टालमो के कानों में डॉ मोंटेसरी द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति के समाचार आ चुके थे। उसे लगा कि डॉ. मोंटेसरी इस काम के लिए उपयोगी रहेंगी। वह डॉ. मोंटेसरी से मिला और उन्हें अपनी योजना समझाई। बल्कि उसने मोंटेसरी से यह अनुरोध किया कि वे इन बालकों को अपनी देखरेख में लेकर इन्हें

उपयोगी प्रवृत्ति प्रदान करें। डॉ. मोंटेसरी को यही चाहिए था। अपने विचारों के अनुरूप ये जो जो प्रयोग करना चाहती थीं, उनके योग्य पात्र इन्हें वहां मिलने की संभावना थी। इन्होंने तत्काल टालमो का अनुरोध स्वीकार कर लिया और सरकारी नौकरी छोड़ कर गरीबों के बालकों को शिक्षा देने का काम स्वीकार कर लिया। परिणाम स्वरूप सन् 1907 के जनवरी माह में पहला बालगृह खुला। इस समय मोंटेसरी की तरफ लोगों का ध्यान जरा भी आकृष्ट नहीं हुआ था। इन्होंने अपने शिक्षण संबंधी विचार गरीब बालकों पर आजमाये और इसमें इन्हें संपूर्ण सफलता प्राप्त प्राप्त हुई। अगले वर्ष दूसरा बालगृह खुला। इस समय तक जनता में मोंटेसरी की कीर्ति फैल चुकी थी। इस दूसरे बालगृह का उद्घाटन धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उस अवसर पर डॉ. मोंटेसरी ने एक सुन्दर और मननीय भाषण दिया। यह व्याख्यान 'मोंटेसरी पद्धति' नामक पुस्तक के 'प्रारंभिक व्याख्यान' शीर्षक अध्याय में छपा है। अब डॉ. मोंटेसरी की ख्याति विद्युत गति से फैलने लगी। अभी बालगृह का काम अधूरा ही था, मोंटेसरी के कार्यों के विवरण अधूरे थे, बालगृह में साधन-सुविधाएं एवं प्रबंध पूरे नहीं हुए थे और प्रयोग तो अभी शुरू ही नहीं हुए थे। इसी बीच अन्य देशों के शिक्षा प्रेमी मोंटेसरी शालाएं देखने के लिए आने लगे। इसी अवधि में इनकी पुस्तक 'मोंटेसरी मैथड' का अंग्रेजी में रूपांतरण हुआ, परिणामतः अंग्रेजी भाषा-भाषी विश्व की रुचि इनकी प्रवृत्ति की ओर एकाएक बढ़ गई। आज तो इस पुस्तक का अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, रशियन, पोलिश, रूमानियन, डेनिश व जापानी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। शिक्षण-साहित्य में यह एक अद्वितीय पुस्तक है। इसकी भाषा बहुत प्रभावशाली तथा प्रोत्साहनदायी है। इसे पढ़ने-पढ़ते कई बार

आंखों से आनंदाश्रु छलछला आते हैं। स्वानुभव एवं स्व-परिश्रम का इसमें मार्मिक वर्णन किया गया है। शिक्षा सम्बन्धी ग्रंथों में यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ समझा जाएगा। इसमें जो नैसर्गिक प्रतिभा है, जो स्व-स्फुरण है, स्वतन्त्रता के विचार-पक्ष की जो खुमारी व मिठास है, वह दूसरे ग्रंथ में बहुत कम देखने को मिलती है। आने वाली पीढ़ी के लिए यह एक अनुपम विरसा है तथा शिक्षा-जगत में एक बेशकीमती रत्न है। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर नव जीवन का आदर्श जगमगा उठता है। देश देशान्तरों के विद्वज्जन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से लोगों के उद्धार हेतु जो प्रयत्न कर रहे है वैसे ही शिक्षा-सम्बन्धी प्रयासों का मूल है यह ग्रन्थ। इसमें भावना की जितनी ऊंचाई है उतनी ही विज्ञान की गहन दृष्टि है। बार-बार पढ़ने पर भी पाठक इससे तृप्त नहीं हो पाते।

आज मोंटेसरी-पद्धति प्रसिद्ध है। यूरोप, अमेरिका, व अन्य अनेक विकसित देशों में इस पद्धति के आधार पर बाल-मंदिर खोले जा रहे हैं। भारत में भी इस पद्धति के अनुसार थोड़े-बहुत विद्यालय प्रयोग करने में जुटे हुए हैं।

पिछले चारेक वर्षों से प्रति वर्ष डॉ. मोंटेसरी लंदन में चार माह का पाठयक्रम चलाती हैं और अपनी पद्धति का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक परिचय प्रदान करती हैं। साथ ही साथ अपनी इस अभिनव शिक्षण-पद्धति के बारे में स्थान-स्थान पर जाकर व्याख्यान देती हैं, नई शालाएं खोलती हैं और अपनी पद्धति का प्रचार करती हैं। गत वर्ष से डॉ. मेरिया मोंटेसरी के संपादकत्व में एम्सटर्डम से एक त्रैमासिक 'काल ऑफ एज्युकेशन' प्रकाशित होने लगा है, जो फ्रेंच, अंग्रेजी व इतालवी भाषाओं में छपता है।

इटली में मोंटेसरी पद्धति का प्रशिक्षण देने के लिए एक शिक्षक प्रशिक्षणालय खोला गया है, जहां तीन वर्ष का पाठयक्रम है।

लंदन में एक मोंटेसरी सोसाइटी स्थापित हुई है, जहां से प्रति माह एक पत्रिका छपती है—'मोंटेसोरियन'।

डॉ. मोंटेसरी के समर्थकों, शिष्यों, अनुयायियों की भांति इनके विरोधी लोग भी हैं। इन लोगों ने पुस्तकें लिखी हैं और चर्चाएं भी की हैं। डॉ. मोंटेसरी का उन्हें एक ही उत्तर है कि जाकर मेरी शालाएं देखो, स्वयं अपना अनुभव अर्जित करो और फिर इस बात की चर्चा करो कि मेरे सिद्धांतों में कितना सत्य निहित है। विरोध करने वाले भी कई बार वरदान बन जाते हैं, यह बात मोंटेसरी के पक्ष में जाती है। एक तरह से वही लोग आज इस पद्धति का अधिक व्यापक प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

डॉ. मोंटेसरी एक असाधारण प्रतिभाशाली महिला हैं। डॉक्टर, दार्शनिक एवं गणितज्ञ होने के साथ ही साथ ये एक अद्भुत शिक्षाविद हैं। इनको स्व-स्फुरण, सर्जन-शक्ति एवं अन्वेषक बुद्धि का नैसर्गिक वरदान मिला है, यह कहना अत्युक्ति न होगा। इनका व्यक्तित्व हम पर अमिट छाप अंकित कर देने वाला है। जो भी व्यक्ति इनमें सम्पर्क-संसर्ग में आता है वह इनके प्रभाव से चकित हो जाता है। ये सुदर्शन हैं, आकर्षक हैं, मधुर वाणी की अधिष्ठात्री हैं। इनकी वाणी में स्वाभाविक सरलता है। इन्हीं असाधारण शक्तियों के कारण पूरे विश्व की महिलाएं इन पर गर्व कर सकती हैं। विश्व में ऐसी प्रभावशाली नारियां गिनी-चुनी ही होंगी।

इनका अपना जीवन स्वतंत्र प्रवृत्ति का जीवन है। ये किसी राज्य के शिक्षा विभाग की अधिकारी या प्रशासक नहीं हैं। सार्वजनिक जीवन में व्यस्त हो जाने का इन्हें शौक नहीं, जब कोई बाहरी प्रवृत्ति नहीं होती तो ये ज्यादातर अपने एकांत में खोई रहती हैं और अपने काम में मशगूल रह कर स्थिर चित्त से प्रयोग करती हैं। ये मूर्तिमंत उद्योगिनी हैं। अंग्रेजी नहीं जानती, मात्र

फ्रेंच और इतावली जानती हैं, फिर भी दुभाषिये की सहायता से अंग्रेजी भाषियों से साक्षात्कार लेती हैं, उनसे पत्राचार करती हैं। कुछ महिलाएं इनके पास ही रहती हैं और इनके सम्पर्क-संसर्ग एवं शिक्षण से शिक्षाशास्त्र में पारंगत होने का प्रयत्न कर रही हैं। ये महिलाएं डॉ. मोंटेसरी को साक्षात् सरस्वती का अवतार मानती है तथा गुरु रूप में पूजती हैं।

डॉ. मोटेसरी का ज्ञान अगाध है—इतना अगाध कि वह सम्पूर्ण ज्ञान हमें सुनाते-सुनाते जीवन ही पूरा हो जाए। बालकों के बारे में ये इतना अधिक ज्ञान रखती हैं कि इनके साथ रहने वालों को आशंका है कि कदाच ये विश्व को वह सारा ज्ञान हस्तांतरित कर भी पायेंगी या नहीं। कहीं इनकी शक्ति का अपव्यय न हो जाए, इसी मंशा से इनकी शिष्याएं उस ज्ञान को सहेजने में लगी रहती हैं। लोगों के त्रास से इनकी रक्षा करती है तथा अधिक बोझा उठाने से इन्हें बचाती हैं। वे इन्हें अवांछनीय आलोचना से बचाकर पूरा प्रयत्न करती हैं कि इनकी शक्ति का अविच्छिन्न भाव से विकास होता रहे और उसका लाभ पूरे विश्व को प्राप्त हो।

बालकों के उद्धार के लिए अभी डॉ. मेरिया मोंटेसरी के कार्यों की हमें बहुत अर्से तक जरूरत रहेगी।

□

प्रकरण दूसरा

डॉ. मोंटेसरी के पूर्ववर्ती शिक्षाविद्

डॉ. मोंटेसरी के पूर्ववर्ती आचार्यों में जॉन लॉक, कोंडिलेक, जेकब पेरेरा, रूसो, ईटार्ड तथा एडवर्ड सेगुइन के नामों की गणना की जा सकती है। जॉन लॉक में मोंटेसरी के महानद का क्षीण-प्रवाही निर्झर मात्र विद्यमान है। कोंडिलेक और पेरेरा ने उस निर्झर को कुछ विपुलता प्रदान करके एक नाले की प्रतिष्ठा प्रदान की है। रूसो ने तो मानो नदी ही प्रवाहित कर दी। उसकी दो धारायें बनीं–एक में पेस्टोलोजो और फ्रॉबेल सैर के लिए निकल पड़े और दूसरी में ईटार्ड एवं सेगुइन के प्रबल प्रवाह आकर मिल गए। ये प्रवाह उच्छूल गतिमान हुए, जोर से बहे तथा बाढ़-से उफल कर छलछलाने लगे। उसी से निर्मित हुआ मोंटेसरी का महानद, जो आज अपने अविच्छिन्न, अविरल, अद्भुत प्रवाह से शिक्षण की भूमि पर सतत बह रहा है। इस प्रकरण में मानो हम उस महानद में नख-शिख अवगाहन के लिए निकल पड़े हैं। चरित्र-कथन और उसका श्रवण पुण्य-स्नान ही होता है। जॉन लॉक से लेकर एडवर्ड सेगुइन तक के चरित्रों का लेखन एक अविच्छिन्न यात्रा-प्रदेश ही है। अगर हम इसमें तीर्थ की भावना से विचरण करेंगे तो हमें मोंटेसरी महानद के दर्शनों का पुण्य प्राप्त होगा।

जॉन लॉक

जॉन लॉक का जन्म सन् 1632 में हुआ था तथा सन् 1704

में इनका देहावसान हुआ था। इनका जन्म स्थान इंग्लैंड में समरसेट था। परिवार प्युरिटन मतावलम्बी था। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम. ए. करने के बाद इन्होंने कुछ अर्से तक ग्रीक वक्तृत्व कला एवं दर्शन के व्याख्याता के रूप में काम किया था, तदुपरांत 34 वर्ष की आयु में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन शुरू किया था। पर वह अध्ययन अधूरा रह गया था। इसके पश्चात् इन्होंने लॉर्ड एस्ली के निजी मंत्री के बतौर काम किया और वर्षों तक रहे। अनुभव एवं स्वाध्याय के परिणामस्वरूप सन् 1699 में 'मनुष्य की समझ शक्ति' विषय पर इन्होंने एक निबंध लिखा। अन्य कामों के साथ-साथ अपने मालिक के पुत्र की, और आगे चल कर पौत्र की पढ़ाई पर इन्होंने ध्यान दिया। इस अनुभव के बल पर इन्होंने एक पुस्तक लिखी–'शिक्षा के बारे में कतिपय विचार'। निश्चय ही शिक्षा विषय पर यह कोई व्यवस्थित पुस्तक नहीं है। एक गृहस्थ के पुत्रों को पढ़ाने वाले निजी अध्यापक के विचारों पर रची हुई पुस्तक थी यह। इनकी मृत्यु के उपरांत एक अन्य पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसमें युवकों के स्व-शिक्षण के संबंध में लिखा गया था।

यद्यपि इन पुस्तकों का विवेचन-क्षेत्र संक्षिप्त था, पर इनमें व्यक्त विचारों ने इंग्लैंड और पास-पड़ौस के देशों पर पर्याप्त प्रभाव डाला था। उस समय एक शिक्षक के पास 50 से लेकर 100 विद्यार्थी पढ़ते थे। पहले से निर्धारित किये गए अभ्यासक्रम के आधार पर शिक्षण होता था और शिक्षण-पद्धति में रटंत-विद्या पर बल दिया जाता था। वैयक्तिक शिक्षण जैसी कोई बात नहीं थी। समूह- शिक्षण की वजह से व्यक्ति पर ध्यान नहीं दिया जाता था। जॉन लॉक में डॉक्टर की दृष्टि होने के कारण इन्होंने सोचा कि जिस तरह से एक डॉक्टर अपने रोगी की देख भाल करता है, उसी तरह एक शिक्षक को भी विद्यार्थी के स्वभाव एवं परिस्थिति

के अनुसार उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। लॉक ने लिखा है कि जिस तरह एक चेहरा दूसरे चेहरे से भिन्न होता है उसी तरह एक मन से दूसरा मन भी भिन्नता लिये हुए होता है। ऐसे बालकों की जोड़ी ढूंढे से भी नहीं मिलेगी कि जो मन और शरीर से पूरी तरह समानता लिये हुए हों। इसीलिए प्रत्येक बालक को एक पृथक व्यक्तित्व मान कर शिक्षा दी जानी चाहिए। यहां वैयक्तिक-शिक्षण का विचार जॉन लॉक से शुरू होता प्रतीत हो रहा है। वैयक्तिक विद्यार्थी ही शिक्षक के वास्तविक विधेय (पात्र) हैं। यह बात इन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखी है। चूंकि स्वयं लॉक ने व्यक्तिगत शिक्षण का अनुभव अर्जित किया था, इसी से उक्त विचार उभर कर आया है।

अब तक का शिक्षण समूहगत था। उसकी त्रुटियों एवं असफलताओं के अनुभव से ही लॉक को लगा कि शिक्षण वैयक्तिक होना चाहिए और शिक्षण की वस्तु शिक्षार्थी के अनुरूप होनी चाहिए, न कि शिक्षार्थी को वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। इस विचार में वर्तमान शिक्षण-प्रयोगशाला का मूल निहित है। शिक्षण विषयों की बजाय महत्त्व शिक्षार्थी का अधिक है तथा क्या-कुछ पढ़ाया जाए या न पढ़ाया जाए, इसका विचार शिक्षार्थी पर निर्भर होना चाहिए, न कि शिक्षक पर। 'बालकों को हाथ खींचकर चलाओ, इसके बजाय बालकों का अनुसरण करो' नामक वर्तमान शिक्षाशास्त्रीय सूत्र की अस्फुट शुरुआत उक्त विचारों में देखने को मिलती है।

बालकों को स्वतंत्रता देने संबंधी इनके विचार अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ हैं। ये कहते हैं कि 'जिस तरह आप बड़े लोग स्वतंत्र हैं, उसी तरह बालक भी स्वतंत्र हैं। वे जो भी अच्छा काम करते हैं, वह स्वतंत्रता की वजह से ही संभव हो पाता है। वे अपने आप में

स्वाधीन और सम्पूर्ण हैं। जो काम आपको तो पसंद हो, पर जिसमें बालक का मन या उसकी रुचि न हो, उससे वह काम हर्गिज न कराया जाए। बड़े लोग भले ही संगीत या वाचन में रुचिशील हों, पर अगर उनसे कोई काम ऐसे क्षण कराया जाए कि उन्हें न रुचे, फिर भी अगर कोई जबरन कराना चाहे तो उन्हें थकान आ जाती है और उनके प्रयास निरर्थक जाते हैं। ऐसी ही बात बालकों के सम्बन्ध में है। बालकों में काम का एक समय अथवा कहें, ऋतु आती है, उस समय वे काम को आसानी से पूरा कर सकते हैं। अगर शिक्षण के उस क्षण को पहचाना जा सके तो पढ़ाने की माथापच्ची ही मिट जाए। इससे समय भी बचता है और उकताहट भरी मेहनत से भी बचाव होता है। बालक अपनी मर्जी से जिस क्षण नहीं सीख पा रहा हो, उस समय का जितना अपव्यय होता है और जितनी मेहनत पड़ती है उससे आधे समय एवं श्रम से बालक तीन गुणा अधिक तब सीख सकता है कि जब वह स्वयं सीखने की मनःस्थिति में होता है। और अगर सीखने की वांछनीय परिस्थिति निर्मित की जा सके तो बालक को पढ़ने में भी उतना ही आनंद आता है जितना खेलने में, याने कहने का आशय यह है कि पढ़ाई उसको खेल जैसी और खेल पढ़ाई जैसा लगने लगता है। स्वतंत्रता देने से बालक की यथार्थ कमियों एवं मानसिक झुकाव को जाना जा सकता है। जिस क्षण बालक यह अनुभव करता है कि उस पर देखरेख करने वाला कोई नहीं, सचमुच उसी क्षण वह अपने व्यक्तित्व को वास्तविक रूप में प्रकट करता है। यहां से शिक्षक उसे पहचान कर जैसा चाहे वैसा स्वरूप निर्मित कर सकता है।' ये अंतिम पंक्तियां भले ही इस समय स्वतंत्रता के दर्शन पर पानी फेरती दिखाई दे रही हों, पर इस बात में कोई संशय नहीं, कि स्वतंत्रता के सिद्धांत का मूल जॉन लॉक की विचारधारा में विद्यमान है।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है—इस सूत्र के आधार पर पहले ये शारीरिक शिक्षा को प्राथमिकता देते हैं और उसके बाद मन की शिक्षा को। शरीर को जॉन लॉक एक डॉक्टर की तरह देखते हैं। शिक्षक को डॉक्टर का यह सुयोग लॉक में विद्यमान है और खास तौर से इनमें डॉ. मोंटेसरी के पूर्ववर्ती आचार्य का आचार्यत्व स्पष्ट रूप से विद्यमान है। डॉ. मोंटेसरी उत्तम चिकित्सक तथा मनोविज्ञानवेत्ता हैं, यह हम जानते हैं। लॉक इन्द्रियों की शिक्षा के विचार को छूते हैं, पर ये विचार स्पष्ट नहीं है। इन्द्रियों की निरोग स्थिति उत्पन्न की जाए, ऐसी बात कह कर ये इन्द्रिय-शिक्षण को समाप्त करते प्रतीत होते हैं। इनकी मान्यता है कि अगर निरोग इन्द्रियों को स्वाभाविक कार्य-व्यापार करने का अवकाश मिलता है तो वे व्यापार स्वयं शिक्षण-स्वरूप हैं। पर इतनी बात भी पूर्ववर्ती आचार्यों के इतिहास में हमारा ध्यान आकृष्ट करने जैसी है।

कोंडिलेक

जॉन लॉक के बाद कोंडिलेक (1715 से 1780) आते हैं। कोंडिलेक एक खानदानी फ्रेंच परिवार की संतान थे। लॉक के विचारों ने जिन्हें प्रभावित किया था, उनमें कोंडिलेक मुख्य थे। उनका मुख्य विचार यह था कि समस्त शक्तियों में मुख्य शक्ति है संवेदना की शक्ति, याने इन्द्रियों के द्वारा होने वाले बहिर्जगत के अनुभवों को ग्रहण करने की शक्ति। इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी-'विश्व के सम्पर्क में आने से इन्द्रियों को होने वाले अनुभव।' हालांकि कोंडिलेक इन्द्रिय-अनुभवों को मानसिक व्यापार की नींव के रूप में मानते हैं, फिर इनकी दृष्टि के समक्ष क्या वर्तमान इंद्रिय-शिक्षण वाला अर्थ मौजूद था, यह नहीं कहा जा सकता!

उल्टे इनका कहना यह था कि इन्द्रियों को विशेष शिक्षण की जरूरत नहीं है। बचपन में इन्द्रियों को बार-बार बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार में लाने की जरूरत पड़ने से इन्द्रियों का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। इनका मत इन्द्रिय-शिक्षण का स्वतंत्र प्रबंध करने की बजाय अवलोकन शक्ति और तुलना-शक्ति का प्रशिक्षण करने का था। यद्यपि सीधे-सीधे तो कोंडिलेक ने इन्द्रियों को शिक्षित करने का कुछ भी काम नहीं किया, तथापि बौद्धिक शिक्षण में इन्द्रिय शिक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है—ये विचार रूसो तक सम्प्रेषित हुए, इसमें कोंडिलेक के विचारों की सार्थकता है।

जेकब पेरेरा

कोंडिलेक के बाद पेरेरा आए। ये पुर्तगाली समाज से आए स्पेन के यहूदी थे। 18 वीं सदी बहरों-गूंगों की शिक्षा में शोध के लिए सुप्रसिद्ध है। उस दौर में पेरेरा इस विषय के एक सम्माननीय अधिकारी हो चुके हैं। अठारह वर्ष की उम्र में ये स्पेन से बोर्डो गए थे किसी काम से। वहां इन्होंने जन्म से गूंगी एक युवती को देखा। उससे परिचय हुआ। उसके प्रेम ने इस युवक को बहरों-गूंगों को मुखर बनाने हेतु अपना जीवन-सर्वस्व समर्पित करने की प्रेरणा दी। अपने कार्य में योग्यता अर्जित करने के लिए इन्होंने औषधविज्ञान–आयुर्विज्ञान का अध्ययन किया और आगे चल कर एक विद्यालय खोला। अपनी शिक्षा का प्रथम सफल प्रयोग इन्होंने तेरह वर्ष की एक यहूदी किशोरी पर किया। बड़े ही धैर्य और सावधानी से इन्होंने उसे अक्षरों का उच्चारण कराते-कराते कुछेक वाक्य बोलना सिखा दिया। इसके पश्चात् सन् 1748 में एक अन्य विद्यार्थी को इन्होंने शिक्षा प्रदान की और पेरिस की विज्ञान समिति के समक्ष उस विद्यार्थी को प्रस्तुत किया। इनकी कार्य-शक्ति से लुई पन्द्रह इतना मुग्ध हुआ कि इन्हें वार्षिक-वृत्ति देनी

शुरू कर दी। सन् 1750 में इन्होंने बोर्डो में मूक-बधिरों की एक निःशुल्क शाला स्थापित की। लेकिन दो वर्ष बाद ये वहां से पेरिस चले गए। पूरे यूरोप से वहां मूक-बधिर बालक-बालिकाएं आते थे। इनके काम को सम्मानित करने के लिए लंदन की रॉयल सोसाइटी ने इन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की थी। सन् 1780 में इनका निधन हो गया।

पेरेरा द्वारा निर्मित पद्धति की सूक्ष्म बातों की पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। एडवर्ड सेगुइन ने शोध करके उनके शिक्षण के कतिपय सिद्धांत ढूंढ निकाले हैं। गूंगे-बहरे लोग हमारी वाणी को सुन-समझ नहीं सकते। पर वे हमें बोलते देख कर, बोलते समय चेहरे पर जो हलचल होती है, उन्हें देखकर बोल सकते हैं। जिस तरह अन्य लोगों को वे मुंह हिलाकर विचार व्यक्त करते देख सकते हैं, वैसे ही अपना मुंह हिलाकर वे अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। परिणामतः मूक-बधिर लोग जिन शब्दों को कान से नहीं सुन सकते, उन्हें आँखों से सुनकर याने कि देखकर सीख सकते हैं और इस प्रकार कान के बजाय आँख को व्यवहार में ला सकते हैं।

पेरेरा ने बताया कि वाणी दो तरह से प्रेषणीय है। एक ध्वनि से, दूसरे आन्दोलन से। प्रथम रीति कर्णगम्य है, जबकि दूसरे आन्दोलन-क्षम त्वचागम्य। इनकी धारणा ऐसी थी कि साधारणतया आदमी आंदोलन का अनुभव किये बिना ध्वनि द्वारा वाणी सुनता है। लेकिन बधिर अथवा जो ध्वनि को न सुन सके, वह आंदोलन का अनुभव तो कर ही सकता है। अतएव अगर बहरों को अमुक सुस्पष्ट ध्वनि के साथ उठने वाले सुस्पष्ट आंदोलनों का अनुभव कराया जाए तो परिणाम-स्वरूप इन आंदोलनों का अनुभव होने पर इनके साथ उठने वाली ध्वनि का बहरे उच्चारण

करेंगे ! इस प्रकार ध्वनि से आंदोलन और आंदोलन से ध्वनि-क्रिया समझ जाने पर बहरे भी भाषा बोलना सीख जाएंगे । इस तरह पेरेरा ने अपने विद्यार्थी को त्वरा से सुनते और उस सुने हुए को ठीक तरह से सुनने के बाद उच्चारण करना सिखाया । इस प्रकार इन्होंने मूक बालकों को मुखर बताया ।

पेरेरा ने इस तरह से तत्कालीन वैज्ञानिकों को सिद्ध कर दिखाया कि स्पर्शेन्द्रिय आदि-इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियां इसी के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं । स्पर्शेन्द्रिय की महिमा को हेलन केलर की अध्यापिका मिस सुलीवान ने अपने एक लेख में यों व्यक्त किया है : 'स्पर्शेन्द्रिय जो महेन्द्रिय है, उसके शिक्षण पर पर्याप्त बल नहीं दिया जाता । सम्पूर्ण त्वचा देखती है और सुनती है । अकेली त्वचा ही नहीं अपितु समस्त हड्डियां, स्नायु तथा शरीर यही काम कर रहे हैं । मनोविज्ञानविद् और नृवंशवेत्ता कहते हैं कि श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय मात्र स्पर्शेन्द्रिय के विशिष्ट नाम एवं रूप हैं । स्पर्शेन्द्रिय इन्द्रियों की माता है । इसने अपनी विविध शक्तियों का दाय अपनी पुत्रियों को प्रदान किया है । अंधों-बहरों का उद्धार इस मातृ-शक्ति के विकास पर टिका हुआ है ।'

आशय यह है कि स्पर्शेन्द्रियों का विकास अंधों-बहरों को सूर्य, सागर तथा तारागणों का दर्शन करता है ।

पेरेरा के विचारों से निम्न तथ्य उभरते हैं :

(1) समस्त इन्द्रियां और प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय शिक्षण में एवं विकास में सक्षम हैं । विकास के परिणामस्वरूप इनकी शक्ति को अनेक गुणी एवं अनंत बनाया जा सकता है ।

(2) एक इन्द्रिय का व्यायाम दूसरी इन्द्रिय की सक्रियता का प्रेरक एवं परीक्षक है ।

(3) सूक्ष्म विचार एवं तुलना आदि मनःव्यापार इन्द्रियगम्य अनुभव जनित हैं ।

(4) इन्द्रियगम्य अनुभव (संवेदना) करने की शक्ति को बढ़ाने में मानसिक विकास का मूल निहित है ।

पेरेरा ने अपने अन्वेषण बधिरों-मूकों के लिए किये थे । इन विचारों का सामान्य बालकों के साथ संबंध जोड़ने वाला तो रूसो था । रूसो बहुधा उनके यहां जाता था । पेरेरा के विचारों ने रूसो पर बहुत प्रभाव डाला था । एमील में अपनी शिक्षा संबंधी रचनात्मक योजना निर्मित करके रूसो ने पेरेरा को पुनर्जन्म दिया है, ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

रूसो

अपने अन्य समकालीनों की भांति रूसो भी लॉक के परिचय में आया था । लॉक ने शिक्षण में स्वातंत्र्य को स्थान देने का शुभारंभ किया था । रूसो ने इस विचार को विशालता प्रदान करके शिक्षण में नए विचार की बुनियाद डाली । पेस्टोलोजी और फ्रॉबेल ने स्वतंत्रता की इसी बुनियाद पर भव्य भवन निर्मित किये और शिक्षण विचार का पुनरुद्धार किया । रूसो के यही विचार मोंटेसरी-पद्धति की स्वतन्त्रता के मूल में निहित हैं । मोंटेसरी का बाल-मंदिर इन विचारों की बुनियाद पर नहीं है, तथापि शिक्षण में स्वतंत्रता की प्रबल हिमायत करने के नाते पहले रूसो को नमस्कार करने के बाद ही अन्य देवों को अभिवादन किया जा सकता है । रूसो का स्वतंत्रता का विचार इस प्रकार है :

'मनुष्य जन्म से सदैव स्वतन्त्र है । स्वतन्त्रता मनुष्य का लक्षण है । पूर्ण मनुष्यता उसमें है कि जो पर-प्रमाण से या पर-

अभिप्रायों से आन्दोलित हुए बिना स्थिर रहता है, जो अपनी निजी आंखों से ही देखता है, अपने ही हृदय से अनुभव करता है—और जो मात्र स्वतन्त्र प्रज्ञा का ही अधिकार स्वीकार करता है। अतएव शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास करे और जीवन के हर प्रकार के अटपटे बाह्य संयोगों में मात्र स्व-वृत्ति का अनुसरण करके ही जीवन-कार्य सम्पादित करे।'

रूसो ने शिक्षण के प्राचीन किलों को ऐसी स्वतंत्रता के विचार से हिला डाला। अस्पष्ट होते हुए भी उसके विचार प्रबल प्रपात की भांति प्रवाहित हुए और पुरानी रूढ़ियों को तोड़ताड़ कर मैदान बना डाला ताकि स्वतन्त्रता की इमारत निर्मित की जा सके।

जिस तरह से मोंटेसरी की स्वतंत्रता का भूतकाल रूसो में देखा जा सकता है उसी तरह मोंटेसरी पद्धति की इंद्रिय-शिक्षा की झांकी भी रूसो के विचार में देखने को मिल जाती है। रूसो ने लिखा है: 'बहिर् जगत का ज्ञान मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करता है, अतः मनुष्य को अपने आप को बहिर् जगत के संबंध में यथार्थ रूप से लाने के लिए अथवा उसका भरपूर लाभ उठाने के लिए इन्द्रिय-शिक्षण लेना चाहिए। इन्द्रिय अनुभव से बुद्धि का प्रदेश उद्घाटित होता है। ज्ञान के प्रमुख हाथ-पैर हमारी इन्द्रियां है। चिंतन करना सीखने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को व्यवहार में लाना सीखना चाहिए।' यहां रूसो इन्द्रियों के शिक्षण का महत्त्व बताता है, तत्कालीन किताबी-शिक्षण का खंडन करता है, और खेल के माध्यम से इन्द्रिय-शिक्षण प्रदान करने की हिमायत करता है। रूसो यह नहीं मानता की इन्द्रियों को व्यवहार में लाने मात्र से ही इन्द्रिय-विकास होता है। वह कहता है:

'इन्द्रियों का विकास याने इन्द्रियों के शिक्षण-उपकरणों से इन्द्रिय-गम्य विषयों को यथार्थ रीति से तौलने की शक्ति। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को यही निर्णय लेना है कि लकड़ी का एक लट्ठा कितना लंबा हो ताकि झरने के उस पार जाने हेतु वह पुल के बतौर काम लाया जा सके। जो व्यक्ति आंखों से देखकर सही अंदाज लगा सके कि इतना लंबा लकड़ा होना चाहिए, तो यही समझ लेना चाहिए कि उस व्यक्ति की आँखें शिक्षित हैं, संस्कारित हैं। तरह-तरह की क्रिड़ाओं, यथा—टेनिस, तीरंदाजी आदि में इस तरह का शिक्षण दिया जा सकता है, जैसे दो पेड़ों के बीच झूला बांधना है, तो विद्यार्थी से पूछा जाए कि डोरी कितनी लंबी होनी चाहिए। रूसो मानता है कि इन्द्रियां अगर तीव्र गति से अनुभव करती हैं तो इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसी में उसकी शिक्षा समाहित है, पर अगर उन्हें इस तरह से परिमाणों की यथार्थता का अनुमान करना आता है तो समझ लेना चाहिए कि उनकी शिक्षा हो चुकी है। मोंटेसरी के इन्द्रिय-शिक्षण में जिस संस्कारिता अथवा सूक्ष्मता का विचार है, वह रूसो में अस्पष्ट है। इन्द्रियों के शिक्षण-उपकरणों के संबंध में रूसो की पद्धति शास्त्रीय नहीं मानी जा सकती।

इन्द्रिय-शिक्षण में मोंटेसरी पद्धति का एकीकरण का सिद्धान्त रूसो में दिखाई देता है, पर इस सम्बंध में उसकी दृष्टि निर्मल नहीं।

ईटार्ड

मोंटेसरी के सच्चे पूर्वाचार्य तो ईटार्ड और सेगुइन हैं। मंद-बुद्धि के बालकों को शिक्षा देकर जो ज्ञान कराया जा सकता है, सामान्य बुद्धि के बालकों को वही ज्ञान स्व-शिक्षण से प्रदान किया जा सकता है। यह विचार ईटार्ड और सेगुइन के प्रयत्नों का

आभारी है। अगर ये दोनों शिक्षाविद न हुए होते तो इस पद्धति का इतनी जल्दी जन्म ही न हुआ होता। मोंटेसरी पद्धति सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिए है। पर इसका आधार मूढ़ और मंद-बुद्धि बालकों को दिया जाने वाला शिक्षण-दर्शन है।

ईटार्ड का जन्म सन् 1775 में (फ्रांस के) ओरेईसन गांव में हुआ था। वे कोई काम-धंधा करना चाहते थे, पर फ्रेंच-विप्लव की वजह से उसकी दशा बदल गई। युद्ध की अवधि में वे फौजी दवाखाने में सहायक सर्जन के बतौर काम करते थे। यहीं उनको अपनी जीवन-प्रवृत्ति हाथ लगी।

21 वर्ष की उम्र में पेरिस के एक मूक-बधिर विद्यालय में चिकित्सक के रूप में इन्होंने काम शुरू किया। वहां इन्हें 11-12 वर्ष की उम्र का एक बालक मिला। वह बालक इंसानी संपर्क-संसर्ग के बिना अभी तक जंगल में भटकता था। उसकी आदतें ऐसी थीं कि जो ऊब उकताहट पैदा करें। पिंजरे में बंद पशु की तरह क्षण भर भी स्थिर रहे बिना वह अपने शरीर को इधर-उधर जोरों से हिलाता था। उसकी देखभाल करने वाले व्यक्ति के प्रति उसमें प्रेम का जरा-सा भी भाव नहीं था। चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं से वह नितांत बेपरवाह रहता था। उसकी इन्द्रियां किसी पाले हुए पशु से भी निम्न शक्ति की थी। उसकी आँखें आकुल-व्याकुल-सी फिरती थी और उसमें किसी तरह का कोई भाव न था। जबरदस्त शोर या मधुर संगीत दोनों के प्रति उसके कान उपेक्षा रखते थे। दुर्गंध और सुगंध दोनों के लिए उसकी नाक एक सरीखी थी। उसके बुद्धि प्रदेश में भी लगभग अंधेरा ही था। पशुओं की जरूरतों के अलावा अन्य किसी भी काम में वह कत्तई एकाग्र नहीं होता था। परिणामत: स्मृति, विवेक, अनुकरण-शक्ति या ऐसी ही मन: शक्तियों का उसमें अभाव था। अत: अगर खाने

का सामान उसकी पहुंच से थोड़ा भी ऊंचा रखा जाता तो उसे लेने के लिए न वह खड़ा होता था न ही खिड़की-दरवाजे खोलता था। अपने आसपास रहने वाले लोगों के साथ सम्बंध स्थापित करने के उसके पास कोई साधन न थे अर्थात् किसी निशानी से या वाणी से वह अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकता था। संक्षेप में, वह पशुवत् या पशु से भी निम्न कोटि का था।

प्राकृतिक मनुष्य कैसा होगा यह देखने के लिए वैज्ञानिक गण ईटार्ड के दवाखाने में दौड़े आए, पर जंगली इन्सान को देखते ही प्रकृति के भव्य मानव के प्रति उनकी कल्पना छिन्न-भिन्न हो गई। पिनेल ने कहा : 'यह तो पागल है, इसे कोई मनुष्य शिक्षित नहीं कर सकता।' ईटार्ड युवा एवं उत्साही थे। इन्होंने पिनेल की दवा तो स्वीकार की, पर उसके निदान को स्वीकार नहीं किया। जंगली इन्सान अब तलक मनुष्य के सम्पर्क-संसर्ग से दूर रहा है, अतएव वह शिक्षण से वंचित रहा है। उसे भी शिक्षित किया जा सकता है, यह मानते हुए ईटार्ड आगे बढ़े।

ईटार्ड ने उसको शिक्षित करने का काम हाथ में लिया। जंगली को शिक्षा देने के संबंध में इनके सामने पांच बातें थी।

(1) जंगली असामाजिक है, अत: उसे सामाजिक बनाया जाए। उसे जंगली हालत में रखते हुए उसके आसपास सामाजिक संस्कारी वातावरण निर्मित किया जाए और उसे तदनुरूप ग्राह्य बनाया जाए।

(2) उसकी इन्द्रियों को अति तीव्र उत्तेजनाओं से उत्तेजित किया जाए। यही काम भावनाओं के संबंध में किया जाए।

(3) उसके जीवन की नयी जरूरतों और बाहरी दुनिया के साथ उसके संबंध को व्यापक बना कर उसके विचार क्षेत्र को व्यापक बनाया जाए।

(4) उसे अनुकरण करने के लिए बाध्य करना तथा वाणी का उपयोग करना सिखाना।

(5) कुछ समय तक स्थूल-जरूरतों के संबंध में उसके मन का विकास साधना और उसके द्वारा उस विकास को शिक्षण-विषयों के व्यवहृत करना।

ईटार्ड ने उसे जंगली हालत से सामाजिक जीवन में लाने के लिए पहले जंगली ढंग से ही उसके साथ व्यवहार की व्यवस्था लागू की। उस समय तक जब वह पागल पेरिस की गलियों में दौड़ता तो ईटार्ड भी उसके पीछे-पीछे दौड़ते, पर उसे बांधकर नहीं रखते। परिणामत: धीरे-धीरे उस जंगली में बहुत बदलाव आया। फिर भी ईटार्ड को स्वानुभव से पिनेल के उस कथन की सचाई का आभास हुआ। इन्द्रियों के शिक्षण में ईटार्ड आंख या कान के शिक्षण का थोड़ा बहुत काम कर सके। उस जंगली बालक को गोल या चौकोर पदार्थ के बीच अन्तर समझना आ गया। दृष्टि से लाल या नीले रंग में वह फर्क कर लेता था। स्वाद से वह खट्टे का अन्तर समझ लेता था। कानों से फल या किसी खाद्य पदार्थ के गिरने की आवाज वह जान जाता था। पर पिस्तोल के धड़ाके को वह सुन नहीं सकता था।

यद्यपि ईटार्ड को उस जंगली बालक की इन्द्रियों के शिक्षण में वांछित सफलता नहीं मिल पाई थी, पर इन्होंने जो चिंतन-धारा चलाई थी वह सेगुइन और मोंटेसरी को उपयोगी प्रतीत हुई। इन्द्रिय-शिक्षण में इन्द्रियगम्य पदार्थों से होने वाले अनुभवों में, उनके साधर्म्य-वैधर्म्य के शिक्षण में शिक्षा समाहित है, इस विचार का मूल ईटार्ड से उद्भूत हुआ लगता है।

ईटार्ड जंगली बालक की आवश्यकताएं बढ़ा पाने में कत्तई सफल न हो सके। खिलौने तो उस बालक को आकर्षित भी नहीं

कर पाए। खाना खाने के बाद सिर्फ एक ही खेल वह खेलता। वह था प्याले के नीचे ढके फल को तलाशना। क्योंकि इस खेल में खाने की चीज का याने फल का आनंद अधिक था। अगर फल के बजाय कोई अन्य चीज रखी जाती तब भी उसका खेल चलता ही। विशेष बात तो यह थी कि उसमें प्रेम की भावना का विकास हुआ था। एक महिला उसकी देखभाल करती थी, जिसके सहवास में वह रहना चाहता था। उसका वियोग उसे दु:खदायी लगता था और उससे मिलकर सुख का अनुभव करता था। ईटार्ड के लिए भी उसके दिल में चाह थी, यद्यपि यह चाह अव्यक्त थी तथापि उतनी ही तीव्र थी।

उसे बोलाने का प्रयत्न लगभग बेकार गया। मात्र 'लेट' शब्द वह बोल सकता था। कुछ अस्पष्ट रूप में इस शब्द के साथ वह अपनी खाने की चीज का विचार जोड़ता था। वाणी से बुलवा पाने में जब ईटार्ड को असफलता मिली तो इन्होंने छपे हुए अथवा लिखे गए शब्द के साथ अर्थ को जोड़कर सिखाने का प्रयत्न किया। इन्होंने एक गत्ते पर लाल गोला, नीला त्रिकोण और काला चौकोर बनाया और इन्हीं कद, आकार एवं रंगों की आकृतियां गत्ते पर बनाई। इसके बाद काटी हुई आकृतियों को गत्ते पर बनाई हुई आकृतियों के ऊपर रखने का काम चला। जंगली बालक ऐसा करना सीख गया। इस काम में नये-नये परिवर्तन किये जाते— कभी रंग में फर्क, तो कई बार आकारों और रंग के वास्तविक संबंध में अंतर कर दिया जाता। इसके पश्चात् उस बालक को चौबीस खानों वाली एक संदूक दी गई। प्रत्येक खाने में मूलाक्षर का एक एक अक्षर कार्डबोर्ड के एक चौकारे टुकड़े पर छपा हुआ था। इसके साथ ही उनकी मेल के धातु के अक्षर रखे गए थे। बालक को गत्ते के अक्षरों पर धातु के अक्षर रखना आ गया।

सबसे पहले उसने 'लेट' शब्द जोड़ा। इसके पश्चात् वह दूध से संबंधित मामले में अक्षरों से 'लेट' शब्द जोड़ता। पर उसमें वह कितने ही अर्थ समाहित कर देता। जैसे—दूध को देखते ही पीने की इच्छा जताना, दूध रखने का बर्तन देखते ही 'लेट' शब्द के साथ संबंध जताना आदि। ईटार्ड ने 'लेट' के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रयत्न किये। पेन, ब्रुश, चाकू या छाजले में से प्रत्येक के नीचे नाम छपे कार्ड रख जाते। उसे पदार्थ के साथ नाम जोड़ना सिखाया गया और उसके बाद एक खेल खिलाया गया कि कमरे के एक कोने में चीजों को मिलाकर रख दिया गया और दूसरे कमरे में बिठा कर एक छपा हुआ कार्ड दिया गया कि प्रमुक चीज उस कमरे से लेकर आए। शुरू-शुरू में वह खेल उसे कठिन लगा, पर बाद में उसने उसे समझ लिया। दूसरे कमरे में रखी चीजें मंगाई गई और यह काम सफलता के साथ कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन ईटार्ड ने प्रयोग में थोड़ा परिवर्तन कर दिया। खेल में व्यवहृत चीजों के साथ दूसरी चीजें उनके स्थान पर रख दी गई। कार्ड देकर कार्ड में लिखी चीज लाने हेतु उससे कहा गया। लेकिन उस जंगली बालक के लिए तो कार्ड में लिखी हुई चीजें, याने वही पुरानी चीजें थी। चीजें बदल दी गई थी फिर भी वह उनके बीच के साम्य को समझ नहीं सका। ईटार्ड बहुत निराश हो गए। ये बोल उठे: 'अभागे बालक! मेरी मेहनत और तुम्हारे प्रयत्न बेकार गए। तू फिर से उसी जंगल में जा और जंगली जीवन में आनंद ले।' लेकिन ईटार्ड फिर से उत्साहित हुए और प्रयोग शुरू किये। आखिरकार वे उस बालक को कुछेक शब्दों के अर्थ सिखा सके। ईटार्ड के उक्त प्रयोग में मोंटेसरी पद्धति के इन्द्रिय शिक्षण में काम आने वाली छह खानों की भौमितिक आकृति का मूल निहित है। साम्य के द्वारा सिखाने

का सम्पूर्ण सिद्धान्त मोंटेसरी ने ईटार्ड से लिया है।

अपने प्रयोगों के प्रति मोंटेसरी जिस धैर्य का अनुरोध करती है, वही ईटार्ड करते हैं। प्रयोगकर्त्ता थके नहीं, एक बार तो जंगली के बराबर जंगली बन जाओ। काम में सफलता पाने के लिए बहुत परेशान हो जाने की ईटार्ड की वृत्ति मोंटेसरी की समर्थ गुरु है।। मोंटेसरी पद्धति में अवलोकन का महत्त्व तथा बालक के अनुरूप शिक्षण का प्रबंध करने की जरूरत ईटार्ड के प्रयोग से उभर कर आई है।

ईटार्ड ने मूक-बधिरों के शिक्षण में जो योगदान दिया था, उसकी चर्चा करने का यहां अवकाश नहीं है।

एवरन के जंगल की बात अत्यन्त रोचक और मार्मिक है। ईटार्ड ने उस बालक को अनेक विधियों से शिक्षा देने का यत्न किया, पर इन्हें बहुत सफलता नहीं मिल सकी। हालांकि वह जंगली बालक कुछ हद तक सामाजिक बना था और कुछ बातें समझना सीखा भी था, तथापि वह मनुष्य के साधारण स्तर तक ही नहीं चढ़ सका था। उम्र के साथ-साथ वह बालक अच्छा हो जाएगा, ऐसी आशा थी, पर जब वह जवान हुआ तो और ज्यादा शरारती बन गया। आखिरकार उसे प्रयोगशाला से छुट्टी दे दी गई और जब तक जीवित रहा, उस देखभाल करने वाली महिला के साथ रहा।

सेगुइन

एडवर्ड सेगुइन का जन्म सन् 1812 में फ्रांस के केलेन्सी गांव में हुआ था। ईटार्ड से उन्होंने चीराफाड़ी और वैद्यक सीखी थी। हालांकि ये ईटार्ड के शिष्य थे और ईटार्ड से इन्होंने मूर्खों के प्रति जीवन समर्पित कर देने की प्रेरणा ली थी, तथापि अपने जीवन

के आदर्श इन्होंने संत साइमन और उनके सम्प्रदाय से लेकर गढ़े थे।

पच्चीस वर्ष की उम्र में इन्होंने एक मूढ बालक को शिक्षा देने का काम अपने हाथ में लिया था। अठारह महीनों के शिक्षण के उपरांत वह बालक अपनी इन्द्रियों का उपयोग करना सीख गया। वह याद रख लेता, समानता कर लेता, बोलता, लिखता और पढ़ता। अपनी इस सफलता के बाद सेगुइन ने मूर्खों की शिक्षा के लिए एक विद्यालय स्थापित किया। पांच वर्षों बाद पेरिस की 'एकेडेमी ऑफ साइन्सेज' (विज्ञान परिषद्) ने इनके दस विद्यार्थियों की जांच की और कहा कि 'सचमुच मूढ़ बालकों की शिक्षा के प्रश्न का सेगुइन ने हल ढूंढ निकाला है।' देश-विदेश के शिक्षाविद् सेगुइन का काम देखने पेरिस आने लगे और विकसित देशों में एक के बाद एक इनके जैसा विद्यालय खुलने लगा। दुर्भाग्यवश 1848 के फ्रांसिसी-विप्लव के कारण सेगुइन को अमेरिका जाना पड़ा और फ्रांस में उनका काम समाप्त हो गया। अमेरिका जाने के बाद इन्होंने वहां भी यही काम शुरू किया और बीस वर्ष तक काम किया। उसके बाद इनका देहांत हो गया।

सेगुइन की शिक्षण पद्धति को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है : 1. शिक्षण के सिद्धांत, 2. क्रियातंतुओं का शिक्षण 3. इन्द्रियों का शिक्षण, 4. बुद्धि एवं नीति का शिक्षण।

शिक्षण के सिद्धांत : सेगुइन का पहला सिद्धांत व्यक्तित्व को सम्मान देने का है। वे कहते हैं : 'पहली नजर में सब बच्चे एक सरीखे नजर आते हैं। अगली दृष्टि में उनमें अनेक फर्क नजर आते हैं। अधिक बारीकी से देखने पर उनमें विभेदों को समझे जाने योग्य तथा नियंत्रित करने योग्य एकता के समूह दिखाई देते हैं। शिक्षण में हमें कुछ मनोवृत्तियों को अनुकूल बनाना है, कुछ का

विरोध करना है, अपूर्णताओं में पूर्णता लानी है, व्यक्तिगत विशेषताओं का अवलोकन करना है, विचित्रताओं के प्रति सावधानी बरतनी है तथा भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों को अनुकूलता प्रदान करनी है।

सेगुइन का दूसरा सिद्धांत है कि मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण अनुभव करता है, ज्ञान अर्जित करता है, और क्रियाशील रहता है। मनुष्य मनुष्यता प्राप्त करे, इसके लिए उसे शरीर, मन एवं क्रिया शक्ति का श्रेष्ठतम शिक्षा दी जानी चाहिए। ये तीनों क्रियाएं मनुष्य में एक साथ चलती हैं। तथापि इनकी शिक्षा के क्रम में पहले शारीरिक, फिर मानसिक और अन्त में क्रियात्मकता को रखा जाना चाहिए। एक की शिक्षा के बिना दूसरी को क्षति पहुंचती है। अकेली मानसिक शिक्षा शारीरिक और क्रियात्मक शक्ति का उल्टे ह्रास करती है।

असंख्य विद्यार्थियों को कक्षा में इकट्ठा करके उनकी व्यक्तिगत रुचि-अभिरुचि जाने बिना उन्हें सिपाही की एक टुकड़ी समझ कर सामुदायिक शिक्षा देने का सेगुइन विरोध करते हैं। उसकी शारीरिक, मानसिक या अन्य शक्तियों का वैयक्तिक रूप से विचार किये बिना शाम पड़े उनके गले से शिक्षण के पांच डोज उतार देने की विधि की सेगुइन निन्दा करते हैं। वे मात्र स्मरण शक्ति पर अधिक बल देने वाली तथा शरीर एवं मन के धर्मों का पक्षाघात उपजाने वाली शिक्षा की भी निंदा करते हैं। यहां हमें ज्ञात होता है कि मोंटेसरी के विचारों के लिए सेगुइन ने कैसी सरस भूमिका तैयार की थी। बालक के व्यक्तित्व को सम्मान देने का सिद्धांत मोंटेसरी सिद्धांत की आधार भूमि है। इसकी नींव का पहला पत्थर सेगुइन रखते हैं।

क्रियातन्तुओं की शिक्षा : इन्द्रिय शिक्षण की बुनियाद पर

बुद्धि एवं अन्य प्रकार की शिक्षा का भवन निर्मित करने का श्रेय सेगुइन को जाता है। शरीर, स्नायु एवं इन्द्रिय शिक्षण के संबंध में मोंटेसरी ने सेगुइन से काफी अवदान प्राप्त किया है। सेगुइन ने जो कुछ शिक्षण पद्धति मूढ़ बालकों को शिक्षित करने के लिए संयोजित की थी, मोंटेसरी ने सामान्य बालकों के स्व-शिक्षण में उसका इस्तेमाल किया है। सेगुइन मोंटेसरी के समीप के, लेकिन बहुत बड़े पूर्वज हैं, यह बात मूढ़ बालकों हेतु इसके द्वारा निर्मित शिक्षा पद्धति से ज्ञात होती है। यही नहीं, इन्हीं के माध्यम से हमें मोंटेसरी पद्धति में प्रयुक्त होने वाले साधनों (शैक्षिक उपकरणों) की विशेषताओं का ज्ञान मिलता है।

सेगुइन मूढ़ और सामान्य बालकों की शक्तियों के बीच मात्र इतना ही अन्तर करते हैं कि शिक्षा के अभाववश ही मूढ़ बालकों की शक्तियां अविकसित रही हैं, इसीलिए जिनकी शक्तियां सामान्य हैं उनकी पढ़ाई के संबंध में सेगुइन के साधन स्व-शिक्षण प्रदान करने वाले हैं। साधारणतया मूढ़मति बालकों को अपने हाथ-पैरों का स्वत: उपयोग करना या सामान्य रूप से खाना-पीना नहीं आता। दूसरे लोग कहें या करें तो झट से कर देने की स्फूर्ति उनके शरीर में नहीं जागती। कई बार विकास न होने की वजह से अथवा अभ्यास की कमी से ऐसा होता है। इसके लिए सेगुइन ने कई तरह के व्यायाम सुझाये हैं। व्यायाम के साथ संगीत भी शुरू किया गया है। शुरू-शुरू में व्यायाम अप्रिय लगते, आंसू निकलवा देते, पर बाद में अच्छे लगने लगते। नन्हें सामान्य बालकों के शरीर स्वस्थ होते हैं। मूढ़ बालकों की तरह उनके शरीर में दोष नहीं होते, फिर भी उनकी और सब क्रियाओं में सम्पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता। इनका कारण यह है कि उनके क्रिया-तंतु भली भांति शिक्षित नहीं होते। इस प्रकार की तरह-तरह की कसरतें

मोंटेसरी ने सेगुइन से ग्रहण की हैं। लकीरों पर चलने की क्रीड़ा, निसैनी, 2′×4″ के तख्ते पर चलने की क्रीड़ा, वृत्त पर संगीत की धुन के साथ चलना, झूला, तरह-तरह की अनुकरण करने की कसरतों आदि के मूल सेगुइन में है। संक्षेप में, शारीरिक शिक्षण के प्रकरण की अधिकांश बातें इन्हें सेगुइन से स्फुरित हुई हैं। मूढ़ बालकों के क्रियातंतुओं को, जो मंद या मृत-प्राय होते हैं, सचेतन या जीवंत करना होता है, जबकि सामान्य बालकों को उन्हीं क्रियातंतुओं को मात्र संतुलित रूप से काम करना सिखाने की जरूरत है।

इन्द्रिय-शिक्षण : इस विषय में मोंटेसरी ने सेगुइन से काफी-कुछ लिया है। इसकी पुष्टि के लिए हमें सेगुइन के इन्द्रिय-शिक्षण की विधि को समझने की जरूरत है। उसके बाद मोंटेसरी द्वारा उल्लिखित इन्द्रिय-शिक्षण के प्रकरण को पढ़ कर यह जानेंगे कि मोंटेसरी ने सेगुइन की पद्धति का कितना लाभ उठाया है।

सामान्यतया मूढ़ बालक की स्पर्शेन्द्रिय अत्यंत जड़ होती है। या तो उसको स्पर्श द्वारा किसी भी वस्तु का पता नहीं लगता या स्पर्शेन्द्रिय इतनी अधिक तीव्र होती है कि किसी भी वस्तु को स्पर्श से जान पाना मूढ़ बालक को अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि वह उसे छू भी नहीं सकता। इस प्रकार की विभिन्न कमियों के कई कारण होते हैं।

इन कारणों को दूर करने के लिए भांति-भांति की कसरतें आयोजित की जाती हैं। जिन बालकों की स्पर्शेन्द्रिय अत्यन्त कोमल होती हैं, उन्हें ईंटें उठाने का, फावड़े-कुदाली से खोदने का या करौती से चीरने जैसे मोटे-मोटे काम सौंपे जाते हैं और जिनकी स्पर्शेन्द्रिय अत्यंत जड़ होती है उनको कोमल और पालिस किये हुए पदार्थ छूने का आदेश दिया जाता है। स्पर्श को बराबर सही

रीति से विकसित करने के लिए ठंडे-गर्म पानी में हाथ डालने की कसरत सेगुइन ने निर्धारित कर रखी है ।

स्वाद एवं गंध की इन्द्रियां स्पर्शेन्द्रिय से मिलती-जुलती ही हैं । सेगुइन इनका कोई विशेष प्रबंध नहीं करते, फिर भी ये इन्हें विस्मृत कर देना एक बड़ी भूल ही मानते हैं । मूढ़ बालकों को गंदगी एवं स्वच्छता, सुगंध और दुर्गंध का तो पता लगना ही चाहिए । इसके लिए उनको स्वच्छतापूर्ण वातावरण में रखा जाना चाहिए और ताजा हवा के संसर्ग में रखना चाहिए । यों करते-करते उनमें कुछ संस्कार आएंगे तो वे शहर की गंदगी से कुछ बचने की कोशिश में रहेंगे ।

कर्णेन्द्रियों को लेकर सेगुइन मानते हैं कि मूढ़ बालक सुनते नहीं, इसकी वजह कानों का दोष नहीं है अपितु भीतर की कोई न्यूनता ही है । भांति-भांति की आवाजों, संगीत तथा वाणी से उन दोषों को दूर करने के प्रयोग किये गए थे । इनका अनुभव था कि यूं तो मूढ़ बालक पिस्तोल की आवाज तक नहीं सुनता, पर अगर प्यास लगी हो तो कप से गिरते पानी की आवाज तक सुन लेता है । जीवन की जरूरतों से संबंधित प्रसंग खड़े करने से, उनसे संबंधित आवाजें मूढ़ बालक सुनते हैं, ऐसी इनकी मान्यता थी । आवाजों से भी संगीत का असर ज्यादा था । अन्य रीति से बालक संगीत न समझ पाये तब भी ऐसा प्रभाव और उसकी भावना को आंदोलित कर देने वाला असर संगीत से होता । इनका अनुभव था कि संगीत से थकान मिटती है । मतिमंद बालकों में संगीत चेतना जगाता है, विचारों को जाग्रत करता है, गति देता है, तथा क्रोध, थकान व शोक को मिटा कर कोमलता प्रदान करता है । संगीत नैतिक जीवन का पोषक है । भले ही शुरू में बालक संगीत पर कान न दे, वह उसे नीरस प्रतीत हो, पर कुछ दिनों में ही उसमें कुछ अंश तक संगीत-प्रियता

जागेगी ही । जब वाद्य बजें तो उन्हें बालक के हाथों अथवा सीने से छुवाया जाए, बजाने वाले को कभी उच्च स्वर में, तो कभी निम्न स्वर में बजाना चाहिए और बीच-बीच में बिल्कुल बंद भी कर देना चाहिए । इस तरह ध्वनि की समता-विषमता की वजह से बालक संगीत की कद्र करने लगेगा । फिर कभी-कभार बालक को नितांत अंधेरे व एकांत में रखा जाए । आसपास का वातावरण शांत करने के पश्चात् दूर-दूर की आवाजें तथा संगीत उसके कानों में डाले जाएं । ऐसा करने से जल्दी या धीमी गति से मंद-कानों में भी स्वर प्रविष्ट होगा ही । एक बार कान सुनने लगेंगे तो वह धीरे-धीरे सुनने लग जाएगा । इस तरह बालक संगीत-प्रिय भी बनेगा । डॉ. मोंटेसरी ने इन तमाम प्रक्रियाओं का सुन्दर उपयोग किया है ।

आंखों की शिक्षा के संबंध में सेगुइन के विचार मोंटेसरी पद्धति की दृष्टि से खास तौर पर जानने योग्य हैं । आंखों के शिक्षण में पहली चीज आंख की स्थिरता है । मूढ़ बालकों में आंखों की अस्थिरता अथवा चंचलता अत्यंत होती है । सेगुइन इसके लिए निम्न व्यायाम सुझाते हैं :

1. जो चीज बालक ढूंढ़ सकते हैं, वह उनसे ढूंढ़वाई जाए ।
2. बालक को अंधेरे में रख कर वहां प्रकाश द्वारा भौमितिक अथवा आकृतियों की रचना करके उसके आंखों में लाना ।
3. केलिडायस्कोप के रंग तथा रंगीन डिजाइनें दिखाना ।
4. बालक के हाथों और आंखों को स्थिर करने के लिए उसे कोल्हू पर बिठाना ।
5. त्राटक करना । अध्यापक बालक को अपने सामने बिठा ले । चारों तरफ शांति होनी चाहिए । बालक के शरीर को अत्यन्त स्थिर रखाया जाए और तब अध्यापक तीव्र

और एकाग्र दृष्टि से बालक की आंखों में देखें। बालक अध्यापक की दृष्टि से हटना चाहेगा, भागेगा, चीखेगा, और आंखें बन्द कर लेगा। अध्यापक धीरज से बैठा रहे। ज्योंही वह आंखें खोले, तो प्रयोग को फिर से चालू रखें। अंततः महीनों बाद बालक की आंखें स्थिर हो जाएंगी और वह उनका उपयोग करने लगेगा।

बालक की आंखें स्थिर होने लगें कि तत्काल उसके पास रंग-बिरंगी चीजें रखी जाएं और साथ ही उनके बीच अन्तर रखा जाए। रंगों के ज्ञान के लिए निम्न चीजों का इन्तजाम किये जाएं :

1. अन्धेरा कमरा, जिसमें रंगीन कांच की खिड़कियां लगी हों।
2. रंगीन कार्ड, रंग-बिरंगे फीते और संगमरमर के चौकोर टुकड़े। इन चीजों के जोड़े बनाकर सजाये जाएं, क्योंकि साम्य देखने से रंग का शिक्षण बहुत अच्छी तरह से होगा।
3. घर में काम में लाये जाने वाली रंगीन चीजों का परिचय।

रूप की शिक्षा देने के लिए निम्न वस्तुओं का उपयोग किया जाता है :

1. गोल, चौरस या त्रिकोणीय आकृतियां।
2. भांति-भांति के घन, (डोमिनो में प्रयुक्त घनाकृतियों जैसी घनाकृतियां)।

'उपकरणों की एक जोड़ी अध्यापक रखे और दूसरी जोड़ी मूढ़ बालक रखे। फिर अध्यापक अपना काम शुरू करें और बालक इसका अनुकरण करें। अध्यापक तरह-तरह के आकार बनायेगा, वह मकान बनायेगा, बंगला बनाएगा, आदि। बालक इसका अनु-

सरण करेगा। मूढ़ बालकों को यह खेल बहुत कठिन लगेगा। पर इस खेल से उसकी आंखों की शिक्षा होगी जो उसके बुद्धि के प्रदेश तक पहुंचेगी।

परिमाण का शिक्षण अध्यापक आंखों से देता है। इसके लिए जिसे मोंटेसरी पद्धति में लम्बी सीढ़ी कहा जाता है, वही साधन है। लम्बी छड़ी और छोटी छड़ी के फर्क को समझाने के बाद छड़ियों को परस्पर मिला दिया जाता है और तब उनको बालक के द्वारा सिलसिलेवार रखवाया जाता है। बालक धीमे-धीमे इस काम को इतनी द्रुत गति से करने लगता है कि हम भी उस गति से नहीं कर सकते। साथ ही बालक को अन्तर का ज्ञान भी दिया जाता है। अध्यापक एक ही तरह की पुस्तकें अलग-अलग अन्तर से रखता है और उसी तरह बालक से करने को कहता है। ऐसा करते-करते अन्त में बालक अन्तर के तत्त्व को समझ जाता है। फिर तो वह मुँह-जबानी आदेश सुनकर ही अन्तर की बात ध्यान में रखते हुए सजाने लगेगा। स्वयं को केन्द्र बिन्दु में रख कर दूर और नजदीक की वस्तुओं के बीच का अन्तर समझना बालक को सिखाना चाहिए। इस तरह परिमाण और अन्तर की बात समझ में आ जाने पर बालक को चित्र समझाये जाने चाहिए। मूढ़ बालक को किसी भी चीज की सतह का ज्ञान नहीं होता। इसके लिए अध्यापक रेत की वेदियां बनाए और बालक से बनवाए। स्लेट या ऐसी ही किसी आकृति के चारों ओर उंगली फेरने को कहे। इसके बाद अध्यापक एक पेंसिल उस बालक को दे। स्वयं स्लेट पर चारों ओर लकीर खींचें और बालक से भी लकीर खींचने को कहे। बालक उसका अनुसरण करेगा, पर इसका अपने स्नायुओं पर नियंत्रण न होने के कारण उसे लकीर खींचने में बड़े परेशानी महसूस होगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बालक को माटी अथवा लुगदी दी

जाती है। बालक उससे चौकोर एवं त्रिकोण आकृतियां बनाता है। बालक को कच्ची लकड़ी पर चाकू से लकीर खींचने को भी कहा जाता है। सामान्य बालक के लिए भी सेगुइन ये सारे काम उपयोगी मानते हैं। क्योंकि इनसे बालक रूप की कल्पना को व्यक्त कर सकता है। कदाचित इन कार्यों से बौद्धिक लाभ कम मिलें, पर इनसे बालक की चित्र एवं लेखन के लिए कल्पनाशीलता दृढ़ एवं निश्चल बनती है।

शुरू में अनुकरण पद्धति द्वारा चित्र का शिक्षण किया जाता है। शिक्षक श्यामपट्ट पर अलग-अलग दिशाओं में रेखाएं खींचता है और बालक से दोहराता है। सीधी रेखाएं खींचना आने के पश्चात् गोल वृत्त बनवाता है, इस तरह रेखा से चित्र का शिक्षण शुरू होता है। साथ ही साथ लेखन के लिए बालक का हाथ सधने लगता है। इस तरह की रेखाएं मोंटेसरी पद्धति में बालक स्वयं बनाते हैं।

सेगुइन और मोंटेसरी पद्धति में चित्र शिक्षण की पुरानी पद्धति में परिवर्तन किया गया है।

बुद्धि तथा नीति का शिक्षण : सेगुइन बुद्धि का शिक्षण वाचन और गणित शिक्षण से शुरू करते हैं। इन विषयों से स्मृति को व्यायाम मिलता है और बालक की समझदारी का क्षेत्र व्यापक होता है। भाषा ज्ञान के बढ़ने पर बालक अधिक सामाजिक और व्यवहार कुशल बनता है। सेगुइन में यही बुद्धि का शिक्षण है।

जब अध्यापक में यह विश्वास जागता है कि मूढ़ बालक में भी शक्ति और सक्षमताएं होती हैं तो नीति का शिक्षण दिया जाता है। याने जब अध्यापक यह मानने लगे कि निश्चय ही ये मूढ़ बालक विकास करेंगे, तो यही नीति की शिक्षा का वातावरण समझा जाना चाहिए। अध्यापक को जब दृढ़ विश्वास हो कि मूढ़ बालक के लिए

किये गए प्रत्येक कार्य से उसकी अंतरात्मा जगमगा उठेगी, उसमें सचेतन क्रियाएं स्फुरित हो उठेंगी, उसमें परिश्रमयुक्त सृजन का विकास होगा, बस इसी को नीति का शिक्षण माना गया है।

सामान्य तौर से वातावरण ही सच्चा नीति शिक्षण है। यही मोंटेसरी का विचार यहां प्रच्छन्न रूप से दिखाई दे रहा है।

□

प्रकरण तीसरा

मोंटेसरी पद्धति का सैद्धांतिक विवेचन

मोंटेसरी पद्धति के सैद्धांतिक विचारों में मुख्यतया स्वाधीनता, नियमन और स्वातंत्र्य की चर्चा की गई है ।

स्वाधीनता

जो मनुष्य स्वाधीन है, वही स्वतंत्र है । जब तक बालक मां का स्तनपान करता है तब तक अपने आहार के संबंध में वह पराधीन है । जब से वह खाने लगता है तभी से वह माता से स्वतंत्र बनता है; तभी से उसके सामने पोषण के साधनों की विविधता बढ़ने लगती है और उसके समक्ष चयन का व्यापक फलक उभर आता है । पहले उसके जीवन का साधन था मां का दूध—स्तनपान, अब जीने के साधनों की कमी नहीं । साधनों की विपुलता का लाभ माता से स्वतंत्र होने के बाद ही बालक ले सकता है ।

यह तो बालक की एक प्रकार की स्वाधीनता हुई । यह स्वाधीनता महत्त्वपूर्ण स्वाधीनता समझी जाती है । फिर भी नितांत अल्प आयु में बालक पूर्ण स्वाधीन नहीं होता । जब तक बालक को अपने आप चलना-फिरना, अपने आप मुंह धोना, अपने आप कपड़े पहनना और जिन-जिन चीजों की जरूरत है वे समझाने जैसी स्पष्ट और साफ वाणी में मांगना नहीं आ जाता, तब तक वह परवश-पराधीन ही है । तीन वर्ष की आयु में तो बालक को स्वाश्रयी और स्वतंत्र बन जाना चाहिए और बड़ों को उसे स्वतंत्र बनाने के लिए आगे आना चाहिए ।

स्वतंत्रता का सही अर्थ – उसका सच्चा रहस्य–उसका सही मर्म अभी हमारी समझ में नहीं आया । इसका कारण यह है कि हमारा सामाजिक जीवन और वातावरण इतना अधिक गुलामी से युक्त है कि प्रति क्षण हम गुलामी का ही स्वासोच्छ्वास ले रहे हैं । जिस युग में 'सेवक' नामक संस्था विद्यमान है, उस युग में स्वाधीन जीवन का खयाल आ पाना ही मुश्किल है; फिर उसके बीजारोपण की अथवा विकास की तो बात ही क्या करें ? गुलामी के दिनों में स्वातंत्र्य का सच्चा अर्थ तो विकृत और अंधकार में ही था ।

हमें याद रखना चाहिए कि वस्तुत: हमारे नौकर हम पर आश्रित नहीं हैं अपितु हम ही उन आश्रित हैं । पर जब तक हम यह स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारी वर्तमान नैतिक दशा अधम स्तर तक जा चुकी है तब तक हम यह बात कदापि स्वीकार नहीं करेंगे कि यह 'सेवक' संस्था जो हमारे सामाजिक विधान का प्रधान अंग बनी हुई है, यह हमारी एक भयंकर भूल है । हम पर कोई भी हुकम नहीं चलाता, पर हम दूसरों पर हुकम चलाते हैं, इससे हम बहुधा मान बैठते हैं कि हम स्वाधीन हैं । पर जो अमीर आदमी अपने काम में किसी नौकर का सहारा मांगता है, वह अपनी काम करने की वजह से नौकर के अधीन है । लकवे से ग्रसित कोई आदमी रुग्णता के कारण पैदा होने वाली परवशता से अपने जूते नहीं उतार सकता, और एक राजकुमार, इस खयाल से कि ऊंचे दर्जे का है, अगर जूते उतारेगा तो कदाचित समाज में अशोभनीय दिखाई देगा, ऐसी नीति से जूते उतारने की हिम्मत नहीं कर पाता, तो इन दोनों में तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं । जो जनता

'सेवक' नामक संस्था के अस्तित्त्व को स्वीकार करती है और यह मानती है कि एक आदमी दूसरे आदमी की नौकरी करता है तो इसमें उन्नति की बात है, तो निःसंदेह जानिये कि ऐसी जनता के लहू में गुलामी है। हम सब ऐसी ही गुलाम वृत्ति के दास होने के कारण मनुष्य की चाकरी को सभ्यता नम्रता, उदारता, समर्पण आदि सुन्दर नाम देकर अपनी निर्बलता को छिपाते हैं।

सच तो यह है कि जो व्यक्ति नौकरी करने लगता है उसकी स्वाधीन चेतना घट जाती है, शक्ति मर्यादित हो जाती है। 'मुझे चाकरी की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं निर्वीर्य नहीं हूं'– यह विचार भावी मानवीय अस्तित्त्व का आधार-स्तंभ होगा। मनुष्य को आत्मा का स्वराज्य मिले, उससे पहले इस विचार को उसने सिद्ध कर लिया होगा। मात्र स्वाधीन मनुष्य ही स्वराज्य का उपयोग कर सकता है। स्वाधीन मनुष्य के लिए ही राज्य है। जो दूसरों को पराधीन रख कर स्वयं भी पराधीन रहता है वह स्वराज्य का मुंह कभी नहीं देख सकेगा। जो शिक्षा बालक को स्वाधीनता के मार्ग पर आगे बढ़ने में मदद देती है, वही शिक्षा प्राणवान है।

हमें बालकों को अपने आप चलने, दौड़ने, सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने, नीचे गिरी चीजों को उठाने, अपने आप कपड़े पहनने-उतारने, अपने-आप नहाने, स्पष्ट बोलने और अपनी जरूरतें साफ ढंग से व्यक्त करना सिखाने में सहयोग देना चाहिए, यह नहीं कि ये सारे काम हम ही करके देने की चाकरी करने लग जाएं। हमें बालकों को ऐसी ही सहायता देनी चाहिए कि जिससे वे अपने निजी उद्देश्य पूरे करने और अपनी इच्छाएं तृप्त करने की शक्ति प्राप्त कर लें। यही सब स्वाधीनता का शिक्षण है।

अपने स्वभाववश हम बालकों की नौकरी करते हैं। प्रेम

की वजह से करें या किसी अन्य कारण से, बालकों के काम उनके बजाय हम कर बैठते हैं। उनके प्रति हमारा यह कृत्य गुलामी युक्त है। यही नहीं, अपितु यह भयंकर है। कारण यह है कि हमारी गुलामी से बालकों की उपयोगी तथा स्व-स्फूर्त प्रवृत्ति मर जाती है। हम यह मानते हैं कि बालक तो मात्र पुतले हैं, हम उनको यों खिलाते हैं, पिलाते हैं, हाथ-मुंह धोते हैं, मानो वे गुड्डे-गड़ियां हों। हम यह विचार तक नहीं करते कि बालक कुछ नहीं करते, इसका कारण यह है कि अभी उन्हें वैसा करना आता ही नहीं। अलबत्ता, बालक को अपना काम अपने आप कर लेना चाहिए। प्रकृति ने उसे अपना काम-काज अपने-आप करने के लिए शारीरिक साधन प्रदान किये हैं तथा कैसे करें, यह सिखाने के लिए बुद्धि भी प्रदान की है। कुदरत से ही जो-जो काम बालक के लिए अपनेआप कर लेने सहज हैं, उन्हें करने के लिए बालक की शक्ति विकसित हो, इसमें हमें मदद देनी चाहिए। जो माता अपने बेटे को अपने आप चम्मच पकड़ कर खाने के बजाय स्वयं चम्मच पकड़ कर खिलाती है और जो माता और कुछ नहीं तो स्वयं खाकर नहीं समझाती कि कैसे खाए बल्कि जो चला कर ग्रास देती है, वह सच्ची माता नहीं है। ऐसी माता अपने बालक की स्वाभाविक स्वतंत्रता और मनुष्य की महत्ता का अपमान करती है। ऐसी माता प्रकृति द्वारा उनकी गोद में सौंपे गए एक मनुष्य को पुतला समझ कर प्रकृति की अवमानना करती है।

अलबत्ता, हम जानते हैं कि बालक को खिलाने, पिलाने का काम या उसके हाथ-मुंह धोने का काम करने के बजाय उसे अपने आप खाना, पीना, हाथ-मुंह धोना या कपड़े पहनना सिखाने का काम बहुत उबा देने वाला, कठिन काम होता है, साथ ही इसमें धीरज

की जरूरत पड़ती है। पर पहला काम आसान होते हुए भी घटिया है, क्योंकि वह नौकर का काम है, जबकि दूसरा काम कठिन होते हुए भी ऊंचा काम है, क्योंकि वह शिक्षाविदों का काम है; बेशक, माता को पहला काम आसान लगता है, पर बालक के लिए तो यह भयंकर ही है, क्योंकि बाल-विकास की दृष्टि से तो यह विघ्न रूपी ही है, बाधक है, उपाधि है, विकास-अवरोधक है।

माता-पिता की इस तरह की वृत्ति के अन्तिम परिणाम सचमुच भयंकर हैं।

जिस बालक पर जितने अधिक नौकर तैनात किये जाते हैं वह अपने नौकरों पर ज्यादा से ज्यादा निर्भर रहने वाला बन जाता है, और काफी हद तक एक तरह से वह उन नौकरों का गुलाम ही बन जाता है। उसे कुछ भी काम नहीं करना पड़ता, इस कारण उसके स्नायु कमजोर पड़ जाते हैं और अन्त में वे क्रिया करने की स्वाभाविक शक्ति खो बैठते हैं। जो आदमी अपनी जरूरत आने पर स्वयं काम नहीं करता, दूसरों की मेहनत पर आश्रित रहता है, उस व्यक्ति का मन मंद और जड़ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को आगे चल कर जब कभी अपनी अधम स्थिति का भान होता है और वह उससे मुक्त होने की इच्छा करने लगता है उस समय उसे मालूम पड़ता है कि अपनी पहले वाली शक्ति को फिर से प्राप्त करने के लिए उसके पास अब कुछ भी बल शेष रहा नहीं है।

गैर-जरूरी मदद स्वाभाविक विकास में अवरोध देती है।

पूर्वी देशों की महिलाओं को फकत आभूषण की तरह घर में बैठे रहना और स्त्रीत्व धर्म पालन करना सिखाया जाता है, इससे स्पष्ट पता लगता है कि पुरुष समस्त काम खुद अकेले करना चाहता है। वह अपना काम भी करता है और स्त्री का काम भी

करता है। इसका परिणाम अनिष्टकारी होता है। स्त्री का प्राकृतिक बल और उसकी प्रवृत्ति करने की शक्ति गुलामी की बेड़ी में जकड़ कर सड़ जाती है। स्त्री का भरण-पोषण किया जाता है और उसकी ताबेदारी उठाई जाती है, यही नहीं, ऐसा करके उसे मानव के रूप में जो व्यक्तित्व मिला है, उसका उपहास करके उसे कमजोर बनाया जाता है। मानव के बतौर मिलने वाले उसके हकों को छीन लिया जाता है। समाज में उसका व्यक्तित्व शून्य मात्र रह जाता है। जीवन को बचाने के लिए या उसकी सुरक्षा के लिए जिन जिन शक्तियों की जरूरत पड़ती है उन तमाम शक्तियों का स्त्रियों को गुलाम रख कर ह्रास कर दिया जाता है।

एक ही दृष्टान्त काफी है।

माता, पिता और एक बालक तीनों गाड़ी में बैठकर एक गांव से दूसरे गांव जा रहे हैं। लुटेरे गाड़ी रोक लेते हैं और पिस्तोल तान कर कहते हैं : 'पैसा अथवा मौत।' ऐसी स्थिति में गाड़ी में बैठे तीनों जने तीन अलग-अलग व्यवहार करते हैं। पुरुष, जिसने हथियार का इस्तेमाल करने की शिक्षा ली है, और उसकी वजह से जो निर्भय है, रिवाल्वर निकाल कर लुटेरों का सामना करने लगता है; बालक के पास घूमने-फिरने की स्वच्छंदता के सिवाय और कुछ न होने से वह चीखने लगता है और जल्दी से जल्दी दूर भाग जाता है, पर स्त्री के पास उसकी कुदरती या कृत्रिम शक्ति नहीं है, क्योंकि उसके अवयव स्त्री के रूप में संस्कारित किये गए हैं। बंदूक से तो वह अस्पृश्य ही रही है इसलिए एकाएक भयभीत होकर चीत्कार करती है और वहीं की वहीं बेहोश होकर नीचे गिर पड़ती है। ढेर होकर पड़ी इस महिला के घर में इतने सारे नौकर हैं कि वे इसे एक भी काम नहीं करने देते, इसी से इस महिला की शक्ति मर चुकी है।

पराधीनता से स्वेच्छाचारिता जनमती है। जो लोग दूसरों की चाकरी से इतराते-इठलाते हैं उनमें स्वेच्छाचारिता आती है। नौकरी की सेवा-टहल लेकर मालिक उन पर हुकम चलाते हैं, इसका कारण यही है कि चाकरी मिल जाने से वह निर्बल हो गया है और अपनी स्वाधीनता को खो बैठा है।

हम एक कुशल एवं निपुण कामदार का उदाहरण लेते हैं। यह स्वयं सुन्दर ढंग से काम कर सकता हैं, यही नहीं, यह पूरे वर्कशॉप को अपनी सलाह से सम्यक् रीति से निर्देशित करता है। जहां यह अपना काम करता है वहां लोगों पर नियंत्रण रखने की और निर्देशित करने की इसमें सुन्दर शक्ति है। ऐसा सशक्त व्यक्ति जब अन्य नासमझ लोग क्रोध करते हैं या उपद्रव करते हैं तो उन्हें खामोश रखता है। इसका कारण यह है कि इसे अपनी शक्ति का भान है। लेकिन यही व्यक्ति जब घर आता है और इसे खाना ठंडा हुआ मिलता है या खाना बनने में थोड़ी देर हो जाती है तो अपनी पत्नी को धमकाता है और उससे लड़ पड़ता है। इस दोहरे व्यवहार का वास्तविक कारण यह है कि यह घर के काम-काज में कुशल नहीं, अपितु पराधीन है। घर में कुशल कामदार उसकी पत्नी है जो उसकी चाकरी करती है और देखभाल रखती है। जिस काम में वह बलवान है वहां वह स्वाधीन है, पर जहां उसकी चाकरी की जाती है वहां वह पराधीन है, अत: निर्बल होने के कारण सेठगीरी करता है। अगर वह अपना खाना बनाना सीख जाए तो स्वाधीन बन जाए। पूरी मानवीयता आ जाने से वह अधीरता बंद कर देगा। अपने आराम एवं विकास के लिए जो मनुष्य अपने जरूरी काम स्वयं करना जानता है वही सच्चा विजेता है, स्वाधीन है, स्वतन्त्र है। जिसको दूसरों का सहारा लेना पड़ता है वह सच्चे अर्थों में गुलाम है।

भावी युग के लिए हमें बलवान मनुष्यों की जरूरत पड़ेगी। बलवान मनुष्य, याने स्वाधीन मनुष्य।

नियमन

अगर कोई सही ढंग से चलने वाली मोंटेसरी शाला को जाकर देखे तो नन्हें-नन्हें बालकों को स्व-अनुशासन से काम करते देखकर आश्चर्य होगा! तीन से सात वर्ष की उम्र के 40 बालक एक साथ मिल-जुल कर काम करते दिखाई देंगे। हर बच्चा अपने काम में खोया हुआ होगा। कोई बालक इन्द्रिय-शिक्षण वाले उपकरण का उपयोग कर रहा होगा, कोई गणित के उपकरण पर काम कर रहा होगा, कोई अक्षर घुमा रहा होगा, कोई बटन वाली फ्रेम पर नन्हीं-नन्हीं उँगलियां घुमा रहा होगा, तो कोई साफ-सफाई करता होगा। कुछ बच्चे टेबिल के पास कुर्सी पर बैठे होंगे तो कोई आसन पर। धीमे-धीमे लेकर जाते और वापिस लाते शिक्षण-उपकरणों की दबी-दबी आवाज आ रही होगी। बीच-बीच में पंजों पर चलते बच्चों के आतुरता-पूर्ण, धीमे और हर्ष युक्त स्वर कानों पड़ेंगे : 'भाई साहब! भाई साहब!, देखो तो सही, यह मैंने बनाया है।' सामान्यतया बालकों की तरह-तरह की प्रवृत्तियों में सिर्फ तल्लीनता ही देखने को मिलेगी।

अध्यापक शांति से इधर-उधर घूम रहा है। जो बालक उसे बुलाता है, वह उसके पास जाता है। वह ऐसी देखभाल करता है कि जिस किसी को उसकी जरूरत पड़े, मानो वह उसके पास खड़ा ही हो। अगर बच्चों को जरूरत नहीं होती तो उन्हें लगता ही नहीं कि वहां अध्यापक खड़ा है। कई बार एक भी शब्द बोले बिना घंटे के घंटे बीत जाते हैं। किसी दर्शक ने जैसा कि एक बार कहा था, वैसे ये बालक 'नन्हें आदमियों की तरह अर्थात न्याय सुनाने बैठे न्यायाधीश जैसे लगते हैं।' जब अपनी प्रवृत्तियां में इस तरह की

तल्लीनता समाविष्ट हो जाती है, तब चीजें लेने में कभी लड़ाई-झगड़ा नहीं होता। एकाध बालक कोई सुंदर रचना बना रहा है तो अन्य बालक आश्चर्य और आनंद के साथ उसमें भाग ले रहे हैं। दूसरों की उन्नति से किसी को ईर्षा नहीं होती, अपितु एक की विजय में सबों को खुशी प्रतीत होती है। कई बार दूसरों की अच्छाई को देखकर वे अपना काम भी अच्छा बनाने लग जाते हैं। उनसे जो भी सृजन कार्य होता है उसी में वे सुख-संतोष मानते हैं। वे दूसरों की कृतियों के प्रति द्वेष नहीं रखते। तीन वर्ष का नन्हा बालक सात वर्ष के बालक के पास शांतिपूर्वक काम करता है। जितना संतोष उसे अपने काम की ऊंचाई से है उतना ही दूसरे के काम से। दूसरे की ऊंचाई के प्रति न उसे असंतोष है न ईर्षा। गंभीर शांति में चारों ओर अभिवृद्धि का—विकास का काम चलता है।

कई बार कोई अध्यापक पूरे छात्र समुदाय से कोई काम कराना चाहता है, जैसे अपनी पसंद का काम छोड़ दो और अध्यापक के पास चले आओ। शिक्षक जरा धीमे स्वर में या संकेत से बालकों को संबोधित करता है कि सर्वत्र शांति छा जाती है। आतुर भाव से वे शिक्षक के बोल सुनने के लिए ताकने लगते हैं और आदेश पालन के लिए उद्यत रहते हैं। शिक्षक श्यामपट्ट पर तरह-तरह के आदेश लिख देता है और बालक प्रेमपूर्वक तत्काल उनका पालन करते हैं। शिक्षक की आज्ञा तो बालक मानते ही हैं अगर कोई दूसरा व्यक्ति भी इन बालकों को काम सौंप देता हैं तो वे सूक्ष्मता से, सावधानी से पूरी बात सुनकर, इस तरह उसे पूरा करते हैं कि देखकर आश्चर्य होने लगता है। कई बार मिलने आने वाले लोग चित्र बनाने वाले बालक से गीत गाने को कहते हैं। बालक अतिथि-सत्कार के भाव से एकाध गीत गाने के

बाद फिर से अपने काम में लग जाता है। उसके काम में कहीं कोई बाधा नहीं पड़ती। कई बार तो बच्चे आज्ञा मिलने से पहले ही काम पूरा कर देते हैं।

अगर बच्चे निर्भय न हों, स्वतंत्र और सुखी न हों तो वे अपना काम सच्चे दिल से दूसरों को नहीं बताते। अगर वे प्रेम-पूर्वक मिलने वालों को सारी बातें न समझायें तो देखने वाले को यही लगेगा कि यह ऊपर से दिखाई देने वाला नियमन सिर्फ दबाव का ही परिणाम है। पर यहां तो यह देखने में आता है कि छोटे छोटे बच्चे स्वयं अपने मालिक हैं। वे प्रेमोत्साह में अपने हाथों से शिक्षक के पैरों में लिपट जाते हैं और शिक्षक को नीचे झुकने के लिए विवश करते हैं। शिक्षक लाड-दुलार से भर कर उनको चूमते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि ये नन्हें-हृदय विकास के लिए कितने स्वतंत्र हैं।

जिन्होंने इन बालकों को भोजन की तैयारी करते देखा होगा, उन्हें बहुत विस्मय हुआ होगा। चार वर्ष के छोटे बच्चे छुरी, कांटे, चम्मच हाथों में लेते हैं। पानी से भरे कांच के प्याले रकाबी में रख कर रकाबी ले जाते हैं और गरमागरम भोजन से भरे बर्तन इतनी होशियारी से एक टेबिल से दूसरी टेबिल तक ले जाते हैं, कि एक भी बूंदे नीचे गिरे पड़े, क्या मजाल ! एक भी गलती नहीं करते। एक भी प्याला नहीं टूटता। दाल की एक भी बूंद नीचे नहीं गिरती। खाने के समय परोसने वाले पूरे ध्यान से नजर रखते हैं। खाने का समान थोड़ा-सा भी कम पड़ा नहीं, कि दूसरा तत्काल तैयार। कोई किसी को जबरदस्ती नहीं परोसता।

चार वर्ष के बालक को, जो सामान्यतया लड़ता-झगड़ता है, जो हाथ में ली गई चोजें तोड़-फोड़ देता है, जिसे सब कुछ करके ही देना पड़ता है, उसे इस प्रकार यहां काम करते देख कर हर

कोई भाव-विभोर हो जाता है। ऐसे परिणाम मानवीय आत्मा के अतल में सुषुप्त शक्तियों के विकास में से आते हैं। कई बार मिलने के लिए आने वालों को बालकों की सभा में आंसू बहाते देखा गया है।

पर ऐसा नियमन मुंह जबानी आदेश अथवा उपदेश से, अर्थात् वर्तमान प्रचलित नियमन की युक्तियों से ही तो आ ही नहीं सकता। ऐसे सच्चा स्वानुशासन शिक्षक पर निर्भर नहीं रहता, अपितु प्रत्येक बालक के अंतर्जीवन में होने वाले विकास पर अवलंबित है।

स्वानुशासन उपालम्भों से अथवा बड़ों के उपदेश से नहीं लाया जा सकता। गलतियां निकाल कर, गलतियों के लिए उपालम्भ देकर अथवा गलतियों के लिए बालक को सामने डांट-डपट कर नियमन नहीं लाया जा सकता। कदाचित शुरू-शुरू में इन तरीकों से ऊपरी अनुशासन दिखाई देगा, पर वह लम्बे समय तक नहीं टिक पाएगा।

सच्चे नियमन का प्रथम प्रभाव प्रवृत्तियों से उदित होता है। किसी क्षण किसी प्रवृत्ति विशेष में बालक को अपूर्व आनंद आने लगता है। उसके चेहरे के भावों से, अत्यंत एकाग्रता व काम में बरती जाने वाली सावधानी से इस बात का प्रमाण भी मिलता है। बस, इसी क्षण बालक ने नियमन के मार्ग पर पहला कदम रखा है, यही समझ लेना चाहिए, फिर बालक की प्रवृत्ति का प्रकार चाहे जो हो, भले ही वह इन्द्रिय-शिक्षण के उपकरणों वाली क्रीड़ा हो या बटन लगाने की प्रवृत्ति हो, या कप-रकाबियां उठा कर चलने की प्रवृत्ति हो।

परन्तु यह प्रवृत्ति स्वेच्छाचारिता से बालकों पर लादी नहीं जा सकती। यह प्रवृत्ति स्वयं-स्फुरित होनी चाहिए याने बालक के

विकास की जरूरतों से उद्भूत होनी चाहिए। और वह उद्भूत होती ही है, क्योंकि विकास के लिए मनुष्य स्वभाववश प्रवृत्ति करना चाहता है। जिस प्रवृत्ति की तरफ हमारे जीवन की अन्तः शक्तियां बिना रुके मुड़ जाती हैं, अथवा जिस प्रवृत्ति में मनुष्य हर कदम पर ऊपर चढ़ता जाता है, वह प्रवृत्ति ही नियमन देने वाली होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही मनुष्य में सुव्यवस्था लाती है और उसके समक्ष विकास की अनंत संभावनाओं के प्रदेश उद्घाटित करती है। ऐसी प्रवृत्ति को बालक तब तक आह्लादपूर्वक बार-बार करता रहता है, जब तक कि वह उसका पोषण करती है, उसे विकसित करती है। छोटे बालकों का अपने शरीर पर काबू नहीं होता क्योंकि उनके स्नायुओं में नियमन नहीं होता। इसीलिए शुरुआत में बालक पूरे समय व्यवस्था-विहीन गतिविधियां करता है। जमीन पर लेटे-लेटे पैर पछाड़ता है, तरह-तरह के हाव-भाव करता है और रोता है। इसका कारण है उसके हिलने-डुलने में संतुलन का न होना। नियमन की भावना उसमें सुषुप्त अवस्था में होती है, जो अभी उसके सामने स्पष्ट नहीं है। इसे पाने के लिए वह प्रयत्न करता है। इसमें अनेक गलतियां भी करता है और मेहनत उठाता है। इसके लिए हमें बालक को सहयोग-सुविधाएं देनी चाहिए। लेकिन इसके बजाय हम उससे यह कहें कि 'मेरी भांति स्थिर खड़ा रह' तो ऐसा कहने से बालक की अशक्ति के अंधकार में प्रकाश नहीं आने वाला! विकास की राह में बढ़ने वाले मनुष्य को मात्र आज्ञा देकर मदद नहीं दी जा सकती। कोई बड़ी उम्र का व्यक्ति या जो अपने विकट आवेश का स्वरूप जानता है और अपनी क्रियाशक्ति के बल पर उसे अन्य दिशा में एक मोड़ देना जानता है अथवा ऐसा करने में जो सक्षम है, उसके साथ बालक की तुलना नहीं की जा सकती।

बालक को लेकर तो उसके स्वाभाविक विकास के मार्ग में होने वाले ऐच्छिक कार्य में उसे सहायता प्रदान करनी ही है। उसे प्रवृत्ति करने की छूट देना एक सहायता है। दूसरी सहायता बालक की प्रवृत्तियां उसके लिए व्यवस्थित कैसे हो सकती हैं, इनका वर्गीकरण करके उसके सामने रखना है। धीरे-धीरे बालक उन पर काबू प्राप्त कर लेगा।

इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिरता बालक को बताई जानी चाहिए। कुर्सी पर बैठने की, खड़े होने की, चलने की, पंजों के बल पर चलने की, जमीन पर खींची हुई लकीर पर चलने की, सीधे खड़े रहने की, आदि प्रवृत्तियां कैसे की जानी चाहिए, यह सब बताने की जरूरत है। चीजें इधर से उधर कैसे ले जाएं, संभाल कर कैसे रखें, कपड़े कैसे पहनें और कैसे उतारें आदि कामों में रहने वाली प्रवृत्ति कैसे की जाए, यह सब दिखाना है। इसके परिणामस्वरूप शरीर की सम्पूर्ण स्थिरता समझ में आ जाने से 'शांत बैठो'; 'स्थिर बैठो', आदि कहने की जरूरत नहीं रहेगी। ऐसी कसरतों से बालक में अपनी उम्र के लिए स्वाभाविक शारीरिक नियमन आएगा। जब प्रवृत्ति सप्रयोजन होती है तो अव्यवस्था मिट जाती है और व्यवस्था आ जाती है। इस तरह से जो बालक संयमित बन जाता है वह निष्क्रियता से भटकता नहीं, अपितु पहले से अधिक व्यवस्थित बनता है। वह विकास में एक डग आगे बढ़ाता है, और स्वाधीनता का उपयोग करता है। उसकी शांति का अर्थ निष्क्रियता नहीं, अपितु वह एक प्रवृत्ति ही है।

ध्यान की क्रीड़ा से नियमन की इस चामत्कारिक साधना में बहुत मदद मिलती है। सम्पूर्ण स्थिरता, दूर से होंठ फड़फड़ाकर बोली गई आवाज को पकड़ने के लिए ध्यान की एकाग्रता, टेबिल-कुर्सी से टकराये बिना संभल कर चला, उठना, बैठना आदि

तथा बिना आवाज किये जमीन पर पंजों के बल चलना ये सब बालक को व्यवस्थित करने में असरदायी तैयारी के प्रतिरूप हैं।

बेशक, बहिर् प्रवृत्ति अन्तर-विकास को प्रेरित करने वाली एक साधन मात्र है। बहिर् प्रवृत्ति अन्तर-विकास को प्रकट भी करती है। प्रवृत्ति से बालक दिनों-दिन अपने मानसिक प्रदेश में विकसित होता चलता है। इस बढ़ते जाते मानसिक विकास के साथ उसका बाहरी काम सुधरता जाता है और वैसे-वैसे उसका आनंद बढ़ता जाता है।

नियमन यथार्थ नहीं, वस्तु नहीं, एक मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले बालक में सद्-असद् के विचार यथार्थतः पैदा होते हैं। यह मार्ग निश्चित हेतु को सिद्ध करने के लिए अंतःकरण से उभरती प्रवृत्ति को करने में निहित है। निश्चित हेतु को सिद्ध करने के लिए की गई प्रवृत्तियों में से आंतरिक सुव्यवस्था जनमती है और बालक को उसका भव्य आनंद प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न क्रियाएं करते समय वह अपने अन्तर में जागृति और आनंद अनुभव करता है। इनसे वह अपना शब्द भंडार निर्मित करता है। वह इनसे माधुर्य तथा बल संचित करता है। यह माधुर्य और बल धार्मिकता का मूल है। जब सुव्यवस्थित प्रवृत्ति करने के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक ज्योति प्रकट होती है तब उसके चेहरे के तथा गंभीर की चमक युक्त आंखों के भाव सरस व कोमल बनते हैं।

स्वयं को अच्छी लगने वाली व्यवस्थाहीन क्रियाएं करने वाला बालक उन अव्यवस्थित कार्यों की वजह से थक जाता है। कुदरती तौर पर श्रम का आराम व्यवस्थित काम में निहित रहता है। स्वच्छ हवा में स्वाभाविक गति से स्वच्छ सांस लेने से फेफड़ों को आराम मिलता है। स्नायुओं से काम लिया जाए तो उल्टे उनकी

स्वाभाविक प्रवृत्ति का अवरोध होने से बालक को श्रम होगा और उसकी दशा नाजुक हो जाएगी। जिस तरह किसी के फेफड़ों को विकसित करने की प्रवृत्ति बंद कर दें तो व्यक्ति तत्काल मर जाता है, और उसके साथ ही उसका जीवन पूरा हो जाता है, यही बात बालकों की प्रवृत्तियों के साथ है। जो काम मन के अनुकूल हो और जिसका स्वरूप सुस्पष्ट हो, उसमें बालक को आराम मिलता है। प्रवृत्ति के निगूढ़ एवं प्रच्छन्न आदेशों के अनुसार चलने में सुख मिलता है। मनुष्य का सृजन एक बुद्धिजीवी के रूप में हुआ है, अत: जैसे-जैसे वह बुद्धि संबंधी कार्य करता जाता है, वैसे-वैसे उसे उनसे शांति मिलती जाती है। जब बालक अव्यवस्थित और असम्बद्ध कार्य करता है तब उसके स्नायु-बल पर बहुत मेहनत पड़ती है, उल्टे, बुद्धि-युक्त कार्यों से उसकी शक्ति पर्याप्त बढ़ती है, कई गुणा अधिक हो जाती है, उसे आत्म-विजय का सात्विक अभिमान आ जाता है, पहले जो क्षेत्र लांघ पाना असंभव-सा लगता था, अब वह उनकी मर्यादा से बाहर जा सकता है। इस बात का जैसे ही उसे भान होता है वैसे ही अपने शिक्षक के प्रति, जिसने उस पर अपने व्यक्तित्व का बोझ डाले बिना उसे शिक्षित किया था, सम्मान का भाव पैदा हो जाता है

बालक की अन्तर-वृत्ति क्या है, किस दिशा में जा रही है, यह हमें देखना है। हम नियमन के लिए उस पर कोई प्रवृत्ति लादें, इसकी बजाय उसे उसके द्वारा पसंद की गई प्रवृत्ति करने को देंगे तो बालक में नियमन आ जाएगा, यह एक यथार्थ सिद्धांत है। अत: हम बालकों की प्रवृत्ति के बीच में न आएं, अपितु उसी की अपनी प्रवृत्ति को सम्मान दें।

एक घटना पर गौर कीजिए।

रोम के बगीचे में साढ़े चार वर्ष का एक हँसता-खेलता सुंदर

बालक था। वह अपनी छोटी-सी बाल्टी में नन्हें-नन्हें कंकर भरने में खोया हुआ था। पास ही उसकी आया बैठी थी। वह यों मानती थी कि मैं बालक की अच्छी देखभाल करती हूं और अच्छे ढंग से संभाल रखती हूं। घर जाने का समय हुआ। आया बालक से धीमे धीमे कह रही थी: 'चलो, घर चलने का समय हो गया। छलांग लगाओ और बाबागाड़ी में बैठ जाओ।' बालक अपनी प्रवृत्ति में इतना तल्लीन था कि उसने उसका वह कथन सुना ही नहीं, सुन लेने पर भी उस पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। उसका अपना काम जारी रहा। जब आया ने देखा कि बालक कहना नहीं मानता, बल्कि दृढ़ता से अपने काम में लगा है, तो वह झट से खड़ी हुई और बाल्टी को कंकरों से भर कर बालक और बाल्टी दोनों को बाबागाड़ी में रख दिया। उसके मन में यह भाव था कि बालक को जिस चीज की जरूरत थी वह उसने खुद चला कर उसे दे दी।

पर बालक जोरों से रोने लगा। उसके नन्हें चेहरे पर अन्याय और जुल्म के चिह्न साफ दिख रहे थे। उस बालक को कंकरों से भरी बाल्टी की जरूरत नहीं थी। कंकरों से उसे क्या काम? उसे तो कंकर भरते समय शरीर को जो व्यायाम मिलता है, वह करने की जरूरत थी। शारीरिक विकास के लिए वह यह क्रिया कर रहा था। बालक का उद्देश्य शरीर और मन का अंत:विकास था। बाल्टी भर कर कंकरों का परिग्रह करना उसका उद्देश्य न था। उस समय उसके आसपास बहिर् जगत के आकर्षण निरर्थक थे, अवास्तविक थे। उसके मन में तो अकेली अपने जीवन की जरूरतें ही वास्तविक थीं। अगर कदाचित उसने पूरी बाल्टी कंकरों से भर ली होती, तब भी उसे संतोष न होता। वह उसे गिरा देता और फिर से वही काम करने लग जाता; और जब उसे तृप्ति मिल जाती तभी रुकता।

बालक को अपने काम में आत्म-तृप्ति मिल रही थी, इसी से उसका चेहरा गुलाबी और खिला हुआ था। सूर्य-प्रकाश, व्यायाम और आध्यात्मिक आनंद ये तीनों प्रकाश-किरणें उसके जीवन को गढ़ रही थीं।

यह छोटी-सी घटना एक छोटा-सा उदाहरण है कि बाल-जीवन में कैसे-कैसे विघ्न आते हैं। बड़े लोग बच्चों को समझते ही नहीं। वे उन्हें अपने पैमाने से ही मापते-तौलते हैं। बालक कुछ काम करने लगता है तो बड़े लोग प्रेमपूर्वक उसकी मदद के लिए दौड़ते हैं। वे यह मानते हैं कि बालक सिर्फ स्थूल चीज ही मांगता है, जो उसे उपलब्ध करानी जरूरी है। पर ज्यादातर तो बालक अपनी इच्छानुसार स्व-विकास चाहता है। कोई उसे करके दे दे तो उसे अच्छा नहीं लगता। जो काम उसने कर लिया है, उसे दुबारा करने में उसे उकताहट होती है, पर जो काम उससे हो नहीं सकता, उसे करने के लिए वह कड़ी मेहनत करता है। दूसरे लोग उसे अच्छी तरह से कपड़े पहनायें तो उसे अच्छा लगने की बजाय, स्वयं जैसा भी पहनना आया, वैसा ही पहनना अच्छा लगता है। दूसरे उसे नहलायें-धुलायें और साफ करें, इसकी बजाय वह अपने आप नहाना-धोना पसंद करता है, फिर भले ही अपने आप वह उतना ज्यादा साफ न हो सके। वह बड़े सारे घर का मालिक होने की बजाय एक छोटा सा घर अपने आप बनाना चाहता है। उसका सच्चा, एक मात्र आनंद स्व-विकास है। जब तक बालक एक वर्ष का होता है तब तक अपने शारीरिक पोषण में ही अपना विकास तलाश करता है, परन्तु उसके पश्चात् वह शरीर तथा मन दोनों का विकास तलाश करता है।

बाग में खेलने वाला वह बालक अपनी इन्द्रियों के स्नायुओं को विकसित कर रहा था। वह पत्थरों के बीच की दूरी का

अनुमान लगाने में अपनी आंखों का तथा पत्थर भरने की क्रिया में लगाने के लिए वांछित बुद्धि का विकास कर रहा था। वह कोई एक निश्चित काम करने की शक्ति पाने में लगा था। पर वह आया तो, जो बेचारी उसे बहुत चाहती थी, यही मानती थी कि बालक को बहुत सारे कंकरों की जरूरत होगी। अपनी ऐसी मान्यता की वजह से उसने बालक के जीवन को दुखी कर दिया।

नियमन में, दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी पसंद की प्रवृत्ति का वह बार-बार कितना पुनरावर्तन करता है। प्रवृत्ति का पुनरावर्तन आंतर्-रस का साक्षी है। नियमन के मार्ग में बढ़ने वाले बालक में ऐसा पुनरावर्तन स्वाभाविक है। बालक का यथार्थ ज्ञान अथवा शक्ति पुनरावर्तन से जाग्रत होते हैं।

बालक ने सचमुच कुछ सीखा है या नहीं, इसका पता उसके द्वारा सीखे गए काम के पुरावर्तन से लगता है। कुछ भी जान-समझ लेने के पश्चात् यदि वह आनंदपूर्वक और संतोषपूर्वक उसे बारंबार करने में रुचि लेने लगे तो समझना चाहिए कि उसे सही ज्ञान हो गया और वह विकास के सही मार्ग पर है। इसके विपरीत हमारे विद्यालयों में पुनरावर्तन की बंदिश देखने में आती है। जब अध्यापक छात्र से प्रश्न पूछता है तो जिन-जिन को उत्तर आता है वे जवाब देने के लिए ऊंचे-नीचे होते हैं। वे अपने प्राप्त ज्ञान का पुनरावर्तन करना चाहते हैं। पर तभी अध्यापक कहता है : 'तुम लोग नहीं। तुम्हें तो उत्तर आता है।' और वह उन छात्रों से उत्तर पूछते हैं, जो उत्तर देने में अक्षम हैं। उस प्रकार जिन्हें उत्तर आता है, उनसे तो पूछा नहीं जाता और जिन्हें उत्तर नहीं जाता, उनसे पूछा जाता है। इस प्रचलन का कारण यह है कि हम यह मान बैठे हैं कि किसी भी विषय के ज्ञान की परिसमाप्ति एक बार ज्ञान प्राप्त हो जाने में निहित है, न कि इसके पुनरावर्तन में।

पर हमारा अनुभव है कि जो काम हमें बहुत पसंद होता है, जिसकी हम बहुत जरूरत महसूस करते हैं, जिसके लिए हमारे भीतर से उमंग उठती है उसे हम बार-बार करना पसंद करते हैं। एक बार पसंद आ जाने वाली संगीत की पंक्तियों को हम बार-बार गाते रहते हैं। जो कहानी हमें बहुत पसंद आती है, जिसे हम बहुत अच्छी तरह से जानते हैं, उसे दूसरों को बार-बार सुनाना चाहते हैं। उन कहानियां में हर बार कोई नयी बात नहीं जुड़ती, फिर भी हम उनको बार-बार कहना-सुनाना चाहते हैं। भगवान की प्रार्थना अनेक बार करने पर भी फिर से बार-बार करने में मजा आता है। वह हमेशा नयी ही लगती है। दो प्रेमियों को परस्पर अगाध प्रेम का बहुत अधिक विश्वास होता है फिर भी वे अनंत बार 'हम परस्पर प्यार करते हैं' यों कहते ही रहते हैं।

इस प्रकार नियमन में पुनरावर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब बालक पुनरावर्तन की स्थिति में पहुंच जाएं तो समझ लेना चाहिए कि वे स्वयं-विकास की राह पर हैं। इसका बहिर्-चिह्न है स्वाधीनता या नियमन। बेशक, सभी बच्चे पुनरावर्तन करने में एक-समान नहीं होते। पुनरावर्तन का आधार भीतरी आवश्यकता पर टिका है। बाल-विकास के ऐसे आवश्यक साधन इस वय में बालक के पास रखे जाने चाहिए। अगर कदाच अमुक आवश्यकता के समय विकास का सही साधन बालक के हाथ नहीं लगा, और बालक उम्र में आगे बढ़ भी गया तो जिस सही क्षण में विकास होना संभव था, वह फिर कभी नहीं हो सकता। कई बार ऐसा होता है कि बालक उम्र में बड़ा हो जाता है लेकिन विकास में अपूर्ण रह जाता है। इस नुकसान की फिर कभी भरपाई नहीं हो पाती।

नियमन जिस तरह आदेश से नहीं आता वैसे ही फटाफट प्रवृत्तियां करने से या करवाने से नहीं आता। नियमन विकास

का परिणाम है। विकास क्रमश: तथा धीमे-धीमे होने वाली क्रियाओं का फल है। अत: जो बालक को पसंद हों, ऐसी प्रवृत्तियां अपनी गति से करने की उन्हें पूर्ण अनुकूलता दी जानी चाहिए। हमें बिना प्रयोजन बीच में नहीं आना चाहिए।

जब बच्चे कोई काम अपने हाथ में लेते हैं तो उन्हें बहुत धीमी गति से करते दिखाई देते हैं। इस बारे में हमारा जीवन और उनका जीवन भिन्नता लिये हुए होता है। छोटे बच्चे अपनी मनपसंद-क्रियाएं, यथा—कपड़े पहनना, उतारना, कमरा साफ करना, नहाना आदि धीमे-धीमे, पर होशियारी से करते हैं। इन सब कामों में उनमें असीम धैर्य होता है। उनकी शक्तियां अभी विकास के मार्ग पर होने से बेशक उन्हें बहुत मुश्किलें आती हैं, और वे उन्हें धैर्य के साथ दूर कर लेते हैं। पर हम लोग कह उठते हैं : 'अरे, यह तो बेकार में समय गंवाता है, बेकार की मेहनत करता है।' इस तरह कह कर हम झट से बालक के काम में आड़े आ जाते हैं और पल भर में उसका काम हम कर डालते हैं। उसी भावना से हम बालक को कपड़े पहनाते हैं या नहलाने बैठ जाते हैं। जिन-जिन चीजों को फिराना उसे अच्छा लगता है, वे सब उनके हाथ से हम छीन लेते हैं। हमीं उसे परोसते हैं, और खाना खिलाते हैं। यहां पर हम इसी मान्यता को लेकर गलती कर बैठते हैं कि किसी भी काम को पूरा कर देना चाहिए, इसी में काम का उद्देश्य निहित है। इस प्रकार बालकों के बदले हम काम करके उन्हें अपंग बना देते हैं, और बाद में हम ही उन्हें नालायक अथवा अज्ञानी कहने लगते हैं। उत्तम से उत्तम उद्देश्य से जो लोग दूसरों पर अधिकार जताते हैं, उनकी न्याय-पद्धति ऐसी होती है। जिस तरह से कोई ताकतवर प्राणी अपने हक के लिए लड़ता है वैसे ही बालक अपने आंतरिक आवेश का, अथवा जो

नैसर्गिक प्रेरणा है और जिसे वह सम्मान दिलाने हेतु दौड़-धूप करता है, अगर कोई उसका विरोध करता है तो उसके सामने वह विद्रोह छेड़ देता है; और चीख कर, रो कर या जोर से हाथ-पैर पटक कर वह व्यक्त कर देता है कि उस पर जुल्म हो रहा है, उसे कोई उसके मार्ग से जबरन दूर लिये जा रहा है। जो लोग उसे समझते नहीं, और मदद करने की भ्रांति में उसे जीवन के सीधे, सच्चे मार्ग से वापिस पीछे धकेलते हैं, वे लोग उसे विद्रोही, बागी या भगौड़ा समझते हैं। जो लोग उसे चाहते हैं वे भी, जब बालक अपने पर आ कर पड़ने वाले जुल्म से बचाव करता है तब, उसे एक तरह से बदमाश कह कर भगा देते हैं। वे मानते हैं कि छोटे बच्चे स्वभाव से ऊधमी होते हैं। पर मान लें कि हम किसी जादूगर के हाथों में आकर फंस गए हैं। हम तो रोजमर्रा की तरह अपने काम में लगे हैं कि तभी वह जादूगर जैसे हमला कर रहा हो, इस तरह उतर कर आता है और हमें झट से कपड़ों से लाद देता है या हमें झट से कपड़े पहना देता है, हमें इतनी जल्दी-जल्दी खिलाने लगता है कि ग्रास को गले से नीचे उतार पाना भी मुश्किल हो जाए, संक्षेप में, जो-जो काम हम करते हैं वे तमाम काम आंखें झपकने के साथ ही वह कर डाले और हमें निष्क्रिय-निर्वीर्य बना डाले, तो हमारी कैसी दशा हो? अगर हम पर आये हुए इस संकट में अपने बचाव के लिए हम चीखें-चिल्लायें, मुक्के मारें और इस राक्षस जैसे जादूगर का सामना करने लगें तो वे कहेंगे कि 'जब उत्तम उद्देश्य से इन लोगों की सेवा-टहल करते हो, तो ये लोग बदमाश, उद्धत और अज्ञानी हैं।' ऐसी ही कुछ क्रिया बालकों और बड़ों के बीच चलती है।

और फिर जब बालक अपने विकास में सहायक साधनों की तलाश करता है, तब न तो हमें बीच में आकर झट से उन्हें छीन लेना

चाहिए, और न ही अनचाहे साधनों को माथे पर उठा कर उन्हें काम में लाने के लिए बालक के साथ जबरदस्ती करनी चाहिए। मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थी के ढाई वर्ष के एक बालक को, जब उसे टेबिल पर रखे लंब-चोरस पैड और पेपरवेट से खेलते देखा तो उसके दादा-दादी ने एकदम से खींच लिया और लगे डांटने : 'कैसा शैतान लड़का है?' इसी तरह हम भी, बालक को, जब वह हर तरह के ज्ञान की तलाश करने लगता है कि धमका कर निकाल देते हैं। बालकों में हर चीज को उठा कर देखने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, जिसे सही ढंग से विकसित करने की आवश्यकता है। ऊपर जिस बालक का उदाहरण दिया गया है वह लिखने के लंब-चोरस पैड या पेपरवेट को या ऐसी ही किन्हीं चीजों को लेना चाहता है, ऐसे में ताकतवर लोग हर बार बीच में आ धमकते हैं। बालक ये चीजें लेने का प्रयत्न करता है, पर बड़ों के सामने जब उसकी एक नहीं चलती तो वह अंत में निराश-निष्फल होकर आवेश में आ जाता है और कुछ भी वश न चलने से पड़ा रहता है। ऐसे अवसर पर उसकी प्राण-शक्ति का अवश्य अपव्यय होता है और बुद्धि एवं शरीर के विकास हेतु सचेष्ट बालक को शैतान कह कर हटा दिया जाता है। ऐसी-ऐसी हरकतें न करने दें तो बालक को आराम मिलेगा, ऐसी उनके माता-पिता की धारणा होती है, जो उनकी एक भूल है। बालक का सच्चा आराम तो उसके विकास हेतु सहायक वांछित साधनों के स्वेच्छया मुक्त-उपयोग में ही निहित है।

हम यह मान कर चलते हैं कि बालक को हुक्म देकर अगर उससे कोई काम कराया जाएगा तो उसकी क्रियाशक्ति विकसित होगी और उसके परिणामस्वरूप उसमें नियमन आएगा। अर्थात् यह हमारा भ्रम है कि बालक की क्रियाशक्ति आदेशानुसार काम

कराने से विकसित होती है। हमारी मान्यता है कि अनिवार्य काम जैसी चीज भी हो सकती है। ऐसे अनिवार्य काम को हम बालक की आज्ञाकारिता के रूप में पहचानते हैं। विशेष रूप से छोटा बच्चा हमें अवज्ञाकारी महसूस होता है। चार-पांच वर्ष की उम्र का होते-होते वह इतना ज्यादा जिद्दी हो जाता है कि फिर हम उसको आज्ञाकारी बनाने में लगभग निष्फल व निराश हो जाते हैं; इस दिशा में हम अपना प्रयत्न करना छोड़ देते हैं और बालक के सामने अनुशासन के गुण की प्रशंसा करने लगते हैं। अपनी रूढ़ि के अनुसार हम बालक में इस गुण के होने की इच्छा रखते हैं, अंतत: बड़ी मुसीबत के बाद हम बालक को संयमित बना पाते हैं। इसी से हम नियमन पर ज्यादा बल देते हैं, लेकिन जो चीज भीतर से आनी चाहिए वह प्रार्थना से, आदेश से, अथवा जोर-जुल्म से आ सकती है—ऐसा मानने की भूल सामान्यत: सभी लोग करते हैं। सच्ची और विचित्र बात तो यह है कि जब हम नन्हें बालकों से संयमी बनने की बात कहते हैं, तब वस्तुत: हम उनसे आकाश के चन्द्रमा की मांग करते हैं।

सच्चा नियमन किस में निहित है, हमें इस पर विचार करना चाहिए। सामान्यत: बालकों में नियमन नैसर्गिक है। किशोरों और युवाओं में यह स्वाभाविक है। मनुष्य में यह स्वयं जनमता है। जनता का यह अत्यंत बलवान लक्षण है। मनुष्य हृदय में यह चीज प्रेरणा जितनी ही दृढ़ है। नियमन के चामत्कारिक गुण पर ही सामाजिक जीवन का प्रासाद खड़ा है। याने यह उसकी नींव की तरह है। नियमन ने जो राज-मार्ग बनाया है उस पर संस्कृति का रथ चला जा रहा है।

नियमन याने समर्पण। संसार में नियमन को लेकर इतने सारे प्रसंग हैं कि हम इसे पहचानते भी नहीं। जो वीर युद्ध के नियमन

का अनुसरण करता हुआ अपनी जीवन-सुधा को समर्पित करता है, हम उसकी प्रशंसा करते हैं, पर अगर वह वहां से भाग छूटता है तो उसे बदमाश या पागल कहने लगते हैं। अनेक लोगों को जीवन-मार्ग पर आगे ले चलने वाले व्यक्ति की आज्ञा के अनुसरण का गहन आध्यात्मिक अनुभव होता है, उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए जो कुछ भी भेंट देनी पड़े, उसके लिए उनकी इच्छा बनी रहती है।

नियमन जीवन का कानून है। बालक में यह गुण आ सकता है। लेकिन अभी हमने बालकों को पहचाना नहीं। नियमन की शक्ति विकसित करने के लिए उनमें जिस क्रियाशक्ति की जरूरत पड़ती है, उसे हमने कहां विकसित होने दिया! उल्टे, हम उसके बीच बाधक ही बने हैं। मात्र इच्छा करने से संयमित नहीं हुआ जा सकता। इसके लिए मनुष्य में क्रियाशक्ति का बल होना चाहिए। जब हम किसी बालक को कोई काम करने का आदेश देते हैं तो हमारे मन में यह बात छिपी रहती है कि अमुक आदेश का पालन करने के लिए बालक में क्रिया करने की अथवा न करने की शक्ति विद्यमान है। अगर बालक की क्रियाशक्ति और बुद्धि का बराबर विकास हो तो नियमन स्वाभाविक है। क्रियाशक्ति और बुद्धि की यथाक्रम शिक्षा का प्रबंध करने में ही बालक को आज्ञाकारी याने कि संयमित बनाने की योजना है। मोंटेसरी पद्धति के जो-जो साधन जुटाये गये हैं उनमें से हरेक के व्यवहार में क्रियाशक्ति का विकास मौजूद है। जब कोई बालक अलग-अलग स्नायुओं के सहयोग से किसी क्रिया को पूरा करता है अथवा क्रिया करने के आवेश को रोकता है, तो समझिये कि वह अपनी क्रियाशक्ति को विकसित कर रहा है। ध्यान की क्रीड़ा में उसे अनेक क्रियाओं को रोकना पड़ता है। जब तक उसे बुलाया न जाए तब तक शांति

से बैठने में, बुलाये जाने पर भी धीमे-धीमे चलने में, और सावधानी से उठने-बैठने में निष्क्रियता की क्रियाशक्ति विकसित की जाती है। क्रिया करके और क्रिया के आवेश को छोड़ करके, दोनों तरह से क्रियाशक्ति को विकसित किया जाता है।

गणित में भी क्रियाशक्ति की तालीम मिलती है। जब बालक को संख्या लिखी हुई एक पर्ची लेकर उसमें लिखे अनुसार चीजें लानी होती हैं, तब उसे अपनी इच्छा पर काबू रखना होता है। बालक की ढेर सारे खिलौने लेने की इच्छा होती है। पर पर्ची की वजह से अपनी इच्छा को नियंत्रित रखना पड़ता है। और जब चिट्ठी में शून्य लिखा हो, तब तो निष्क्रिय होकर बैठना ही पड़ता है। शून्य का अर्थ सिखाने के लिए जो पाठ दिये जाते हैं उनमें इस तरह की क्रिया-शक्ति को पर्याप्त विकास मिलता है। जब बालक को शून्य बार बोलने को कहा जाता है, शून्य बार चूमने को कहा जाता है तो बड़ा मजा आता है। बालक स्थिर और शांत रहने का स्पष्ट प्रयत्न करता है। यहां भी क्रियाशक्ति का शिक्षण होता है और फिर जब बालक खाना खाने बैठते हैं तब उन्हें परोसने में भी अनेक तरह से क्रियाशक्ति विकसित होती है।

क्रिया अथवा क्रियावरोध करना पड़े, ऐसी तरह-तरह की प्रवृत्तियां करने से ही क्रियाशक्ति को विकास और बल मिलता है। बालगृह की समस्त प्रवृत्तियों से क्रियाशक्ति का भरपूर विकास होता है। बालगृह में बालक होशियारी, व्यवस्था, सौंदर्य दृष्टि, इन्द्रिय विकास, लेखन और वाचन सीखता है, यह सही है, पर इन सब के पीछे सच्ची शिक्षा तो क्रियाशक्ति के विकास की ही निहित रहती है। वह अपनी क्रियाशक्ति को प्रतिपल विकसित करता ही जाता है। यह क्रियाशक्ति नियमन का प्राण है।

हमें बार-बार ऐसी बातें सुनने को मिलती हैं कि 'बालक की क्रियाशक्ति को हमें तोड़ देना चाहिए। क्रियाशक्ति को विकसित करने की उत्तम रीति तो यह है कि वह अपनी क्रियाशक्ति बड़ों के अधीन कर दे, याने उसे हमारे अधीन व्यवहार करना चाहिए।' बच्चों पर जो जुल्म ढाये जाते हैं वह कितना बड़ा अन्याय है, इस बात को अगर हम एक तरफ रख दें तो उपर्युक्त विचार मात्र तर्क विरुद्ध है। बालक के पास जो चीज वास्तव में है ही नहीं, वह बड़ों को देगा ही कैसे ? हम स्वयं उसकी क्रियाशक्ति के विकास में बाधा डालते हैं और फिर उससे आज्ञाकारिता, स्वाधीनता, चारित्र्य आदि गुणों की मांग करते हैं, जिनका आधार ही क्रियाशक्ति पर टिका होता है।

जिधर भी देखो, आज की शिक्षा-संगोष्ठियों में एक ही बात सुनाई देती हैं : 'आज के विद्यार्थियों में चरित्र-बल नहीं रहा।' लेकिन इस सारी चीख-पुकार मचाने वाले को वस्तु स्थिति का पता तक लगाने की इच्छा नहीं, कि इस स्थिति का कारण है हमारी शिक्षा पद्धति। यह शिक्षा पद्धति, याने क्रियाशक्ति के विकास का विरोध। याने बालक क्रिया को न करने देना, अपितु स्वयं करना, बालक को न पढ़ने देना, अपितु स्वयं पढ़ाना, बालक को स्वयं न सोचने देना, अपितु उसमें अपने विचार भरना। यह सब क्रिया-शक्ति के शिक्षण-विरोधी बातें हैं। चारित्र्य सीनाजोरी करने से नहीं आता। इसका वास्तविक विकास तो मानव विकास को— उसके शरीर, मन आदि की प्रवृत्तियों को स्वातंत्र्य का परवाना प्रदान करने में निहित है।

स्वातंत्र्य

स्वातंत्र्य याने प्रवृत्ति। स्वातंत्र्य में से ही संयमन याने व्यवस्था प्रकट होती है। लेकिन अगर कोई यह पूछे कि 'स्वतंत्र

बालकों की कक्षा में व्यवस्था कैसे लाई जा सकती है? तो यह प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है। क्योंकि आज की शालाओं में बालकों की प्रवृत्तियों को रोक करके ही—इस एक ही उपाय से—शांति और व्यवस्था रखी जाती है। परन्तु यह शांति चेतन की नहीं, मृत देह की है। यह व्यवस्था जड़ पदार्थों की है, जीवंत प्राणियों की नहीं।

संयमित वह है जो स्वयं अपना राजा है। याने जब उसे अपने जीवन में कोई कार्य करने की जरूरत पड़े तो उस संबंध में वह अपना सुन्दर व्यवहार व्यक्त कर सके। बालकों में इस कोटि की सक्रिय संयमितता लाई जाने की योजना आसान नहीं है, फिर भी इसी एक वस्तु पर जीवन का आधार है। अधिकार के बल पर उत्पन्न हुआ संयम, कि जो जड़ है, शाश्वत है, वह इससे भिन्न चीज है।

विकासमान बालक को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जब उसे विकासमान परिस्थिति में से प्रवृत्ति के चयन की इच्छा स्फुरित हो, तभी प्रवृत्ति करने की छूट मिलनी चाहिए। स्वातंत्र्य का अर्थ अतंत्र या परतंत्र—दोनों में से एक भी नहीं है। हमारी अथवा अन्य की निर्भरता से मुक्त करके बालक को स्वयं अपने पर आधारित करने का नाम है स्वतन्त्रता के मार्ग पर ले जाना।

उक्त स्वातंत्र्य की एक मर्यादा सामुदायिक हित की है। सामुदायिक हित को हम सभ्यता अथवा भद्रता के नाम से पहचानते हैं। अतएव बालक जब भी किसी दूसरे को चिढ़ाये या परेशान करे अथवा अशोभन-असभ्य कृत्य करे तो हमें उसको वहीं रोक देना है। इसे छोड़कर बालक की कोई भी अन्य उपयोगी प्रवृत्ति हो, चाहे उसका स्वरूप कैसा ही क्यों न हो, तो हमें उसमें बाधक नहीं बनना चाहिए। बालक ठीक जिस क्षण काम करना

शुरू करे, उस क्षण की स्वयं-स्फुरित क्रिया को अगर हम मसोस डालें तो उसके बहुत खराब परिणाम सामने आते हैं। इस तरह तो हम स्वयं जीवन का दम ही घोंट देते हैं। जिस तरह उष:काल में सूर्य भव्य दिखाई देता है, और जिस तरह अपनी पहली पंखुड़ियों को उधाड़ता फूल भव्य दिखाई देता है, उसी तरह सृष्टि का अथवा जनता का यह नाजुक व सुन्दर बाल्यकाल भव्य दिखाई देता है, अतएव इसे धार्मिक भावना से सम्मानित करना चाहिए। शिक्षा की वही क्रिया सफल हो पाएगी जो जीवन के सम्पूर्ण विकास को सहयोग देने वाली होगी। ऐसे विकास हेतु सहयोगी बनने से पूर्व शिक्षक को यह समझना जरूरी है कि वह बालकों की स्व-स्फुरित गतिविधियों को न रोके, न ही अपनी मर्जी के काम उन पर लादे। अलबत्ता बालकों के निरर्थक और जोखिम पूर्ण कार्यों को शिक्षक हर्गिज न पोषे। वह इन्हें दबा दे या समाप्त कर दे। परन्तु इस संबंध में शिक्षक को तालीम लेनी चाहिए, योग्य एवं अयोग्य निर्णय का सूक्ष्म विवेक उसे अपने भीतर विकसित करना चाहिए।

स्वतंत्रता का सच्चा मार्ग बताने के लिए बालक को अच्छे और बुरे का ध्यान देना जरूरी है। पुराने आदर्शों के अनुसार तो बिना हिले-डुले चुपचाप बैठे रहने का नाम सज्जनता है, भलाई करने का नाम उत्तमता है और क्रिया करने का नाम बुरी बात है। शिक्षाविद का कर्त्तव्य यह कि बालक के मन में कोई बात जबरन न ठसाये, न ही उसे खाली बिठाये रखे। काम करने के लिए संतुलन अर्जित करने का नाम है संयमन। कुछ न करके मात्र निष्क्रिय बन जाने, बैठे ही रहने अथवा बताये जितना काम करने का नाम संयमन नहीं है।

जिस कक्ष में सभी बच्चे कुछ न कुछ उपयोगी काम करने के

लिए बुद्धि और मन से क्रियमाण रहते हैं, किसी तरह का असभ्य, जंगली कटुतापूर्ण व्यवहार नहीं करते, वही कक्ष स्वतन्त्र और व्यवस्थित समझा जाना चाहिए।

दूसरे विद्यालयों की तरह बालकों को एक कतार में बिठाना, प्रत्येक की जगह निश्चित कर देना और पूरी कक्षा को इतना अनुशासित रखना कि वह शांतिपूर्वक बैठी रहे—ये बातें आगे चल कर ही संभव हो सकती हैं। जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं कि जब हमें शांत बैठना पड़ता है, यथा–सभाओं और जलसों में। और हम जानते हैं कि हमारे जैसे बड़ों को भी अपनी वैयक्तिक इच्छाएं समर्पित करनी पड़ती हैं। जब बालकों में वैयक्तिक संयम आ जाए, तब यथासंभव उन्हें इकट्ठा किया जाए और उनकी जगहें तय कर दी जाएं। ऐसी व्यवस्था करके हमें बालकों के दिमाग में यह विचार जगाने का प्रयत्न करना है कि इस तरह बैठने से वे सुन्दर दिखते हैं। बैठने का यह अच्छा तरीका है, इससे कमरे की सुन्दरता बढ़ जाती है। इस प्रकार तरह-तरह के दिशा-सूचक पाठ देकर व्यवस्था स्थापित की जा सकती है, आदेश देकर नहीं। यह काम बालकों से जबरदस्ती कराने में कोई लाभ नहीं। अगर कराया जएगा तो वे वास्तविक सामूहिक व्यवस्था का सबक सीख ही नहीं सकेंगे। महत्त्व की बात है बालकों पर एक तत्त्व या विचार की मुहर अंकित करना। बाद में वे उसे धीरे धीरे अपनाकर व्यवहार में ढाल लेंगे।

व्यवस्था संबंधी विचार एक बार हृदय में स्थिर हो जाने बाद तो बच्चे सोच-समझ कर ही अपने जगह से उठेंगे, हिलेंगे, मिलेंगे बातचीत करेंगे, स्थान बदलेंगे। बिना विचारे वे ऐसा नहीं करेंगे। शांति और व्यवस्था संबंधी दृढ़ विचारों के उपरांत ही वे अपनी स्वैच्छिक क्रियाएं करने लगेंगे। अमुक काम को करने में कोई

बाधा है, यह ज्ञान हो जाने से उनके भीतर अच्छा क्या है और बुरा क्या है इसके बीच अन्तर करने का विवेक जागेगा और एक नया उत्साह पैदा होगा। व्यवस्था उत्पन्न हो जाने के पश्चात दिनों-दिन बालकों की प्रवृत्तियां अधिकाधिक सम्पूर्ण और सहायक बनती जाएंगी और वे अपने काम के बारे में सोचना शुरू कर देंगे। बच्चे अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों की अव्यवस्था से कैसे धीमे-धीमे व्यवस्थित होते गए हैं इसके अवलोकन संबंधी अनुभव ही किसी शिक्षक के लिए शिक्षा का महान् ग्रंथ है। अगर कोई अध्यापक सचमुच एक समर्थ शिक्षाविद बनना चाहता है तो उसे यही ग्रंथ पढ़ने की अथवा इसी का अनुशीलन करने की आवश्यकता है। प्रारंभ में बालक की अव्यवस्थित गतिविधियों की वजह से उनके रुझानों का पता नहीं लग पाता; पर जब उनमें व्यवस्था के भाव प्रविष्ट हो जाते हैं तो वे अपनी अंत:वृत्तियों के अनुकूल प्रवृत्तियां करने लग जाते हैं और उनके द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करने लगते हैं। उन्हें यों करने देंगे तो उनके अपने वैयक्तिक अन्तर इतनी सुस्पष्टता से उभर आयेंगे कि हमें ताज्जुब होगा। स्वतंत्र और जाग्रत याने व्यवस्थित बालक ही स्वयं को व्यक्त कर सकता है।

बालगृह में कई तरह के बालक देखने को मिलेंगे। कई तो अपने ही स्थान पर शांति से बैठे रहने वाले, बेफिक्र और आलसी जैसे होंगे; कई ऐसे होंगे कि जैसे तकरार करने, लड़ने-झगड़ने, अलग-अलग चीजों को उलटने-पलटने और अपना स्थान छोड़कर चक्कर लगाने निकल पड़े हों; तो कई ऐसे भी दिखाई देंगे कि किसी खास प्रयोजन के लिए टेबिल घुमा रहे होंगे या किसी खास स्थान पर कुर्सी को रख कर बैठना चाह रहे होंगे अथवा चित्रों का अवलोकन कर रहे होंगे। कई बालक मानसिक

विकास में पिछड़े हुए दिखेंगे, तो कई शरीर से रुग्ण दिखेंगे, कई चारित्र्य में पिछड़े हुए दिखेंगे, तो कई बुद्धिमान मालूम पड़ेंगे। बुद्धिमान बच्चे परिस्थिति विशेष के अनुकूल बनने में समर्थ होंगे, अपनी पसंद-नापसंद व्यक्त करने में सक्षम होंगे, अपनी स्वयं-स्फुरित एकाग्रता की शक्ति एवं रुझान बताने में सक्षम होंगे और अपनी सीमाएं भी व्यक्त कर सकेंगे।

प्राणि एवं वनस्पतिशास्त्र में वनस्पति और प्राणियों के अवलोकन को लेकर स्वतंत्रता का जो अर्थ लिया जाता है वह अर्थ बालक की स्वतन्त्रता के संबंध में ग्रहण नहीं किया जाता। बालक एक तरह से जन्म से पराधीन पैदा होता है। सामाजिक व्यक्ति के नाते उसमें अमुक गुण होते हैं अत: वह बंधनों से घिरा रहता है और ये बंधन उसकी क्रिया को सीमित करते हैं।

स्वतंत्रता पर निर्मित शिक्षा-पद्धति का काम यह है कि उसे बालक को स्वतंत्र बनाने की शिक्षा देने के लिए आगे आना है। स्वतन्त्र वातावरण में बालक जैसे-जैसे धीमे-धीमे आगे बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे स्वयं को अधिक से अधिक व्यक्त करता जाएगा, अपने मूल स्वभाव को अधिक निर्मलता से बाहर ला सकेगा। अतएव शिक्षण में प्राथमिक महत्त्व की बात है बालक को स्वाधीनता के मार्ग पर लेकर चलना।

एक बार स्वतन्त्रता के सिद्धांत को अंगीकार करने की बात है, फिर तो दंड और पुरस्कार अपने आप भाग जाएंगे। स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप संयम सीखा हुआ व्यक्ति हर हालत में ऐसे पुरस्कार की स्पृहा रखता है कि जो उसे कभी अपमानित नहीं होने देता, न ही निराश करता। इस सम्बन्ध में डॉ. मोंटेसरी अपने अनुभव के दृष्टांत देती हैं। इन्होंने लिखा है कि एक बार मैं अपनी देखरेख वाली शाला में देखने के लिए गई थी। अध्यापक

ने वहां मेरी पद्धति के स्थान पर अपनी अन्य युक्तियों को आज-माना शुरू कर दिया था।

एक बुद्धिमान बालक के गले में मैंने डोरी से बंधा चांदी का क्रॉस लटकता देखा। दूसरा बालक कमरे के बीच में सोच-समझकर रखी गई आराम-कुर्सी पर बैठा था। एक बालक को सजा दी गई थी, जबकि दूसरे को पुरस्कार दिया गया था। मुझ को देख लेने के बाद अध्यापक कुछ भी नहीं कर सका। परिस्थिति मेरे सामने जो थी, वही रही। मुझे उसे देखने में आनंद मिला। जिस बालक के गले में क्रॉस था, उसे अतिरिक्त काम में रोका गया था। उसका ध्यान अपने क्रॉस की तरफ नहीं था! उनके चेहरे पर श्रम और उद्योग के चिह्न थे। वह बार-बार उस कुर्सी में बैठे बालक के पास से गुजरता था। एक बार उसके गले का क्रॉस निकल कर नीचे गिर पड़ा। कुर्सी में बैठे बालक ने उसे उठा लिया और उस काम में व्यस्त बालक से कहने लगा : 'तेरा क्या गिर गया है, इसकी खबर भी है तुझे?' उद्योगशील उस बालक ने दृष्टि मात्र से जवाब। दिया : 'मैं अपने काम में लगा हूं, मुझे बाधा पड़ रही है। मैं क्रॉस की परवाह नहीं करता।' बल्कि उसने जोर से कहा : 'मुझे क्रॉस की दरकार नहीं।' दूसरे बालक ने पूछा : 'क्या सचमुच दरकार नहीं? तब तो इसे मैं रख लेता हूं और पहन लेता हूं।' उत्तर मिला : 'मजे से पहन लो। बस, मुझे बाधा मत डालो।'

आराम-कुर्सी वाले बालक ने क्रॉस गले में पहन लिया। वह मानो सुख से आराम-कुर्सी में लुढक गया और जैसे आनंद प्रदर्शित कर रहा हो, वैसे अपने हाथ कुर्सी कर टिका दिये। क्रॉस उसे सचमुच आनंद दे रहा था। ऐसा ही होता है। जो बालक प्रवृत्ति में रोका गया था उसे अपने काम में आनंद और संतोष याने तृप्ति मिल रही थी, उसे क्रॉस की परवाह भी नहीं थी पर उस

सजा पाने वाले बालक को तो वही चीज महत्त्व की लगी। उसके जीवन में दूसरी आनंद देने वाली चीज थी ही नहीं।

एक बार मैं एक महिला के साथ एक विद्यालय देखने गयी। उसके पास चांदी का बॉक्स था। विद्यालय में आकर उसने उसे खोला और कहने लगी : 'इसमें से एक-एक चांद प्रत्येक बालक के सीने पर लटका दीजिए।' मैं कुछ नहीं बोली। अध्यापक ने बॉक्स हाथ में लिया। उसी समय एक छोटा-सा बालक टेबिल पर बैठा काम कर रहा था। उसने ललाट में सल डाले और चीख उठा : 'लड़कों को नहीं, लड़कों को नहीं।' इस बालक को हालांकि किसी ने कहा नहीं था, वह जानता था कि वह कक्षा में सबसे होशियार है। उसने पुरस्कार से अपमानित होने की मनाही व्यक्त की। यह कैसे आश्चर्य की बात है? यह एक जबरदस्त चमत्कार ही था। अपने रुतबे को और किस तरह से सहेजा जाए, इसकी उसे खबर न थी। अत: 'लड़कों को नहीं' कहते हुए उसने अपनी निजी श्रेष्ठता की शरण ली।

हमारा अनुभव है कि कई बच्चे हमारी कोई बात सुने बिना, हमें सम्मान दिये बिना अन्य बालकों को क्षति पहुंचाते हैं। ऐसे प्रत्येक बालक की डॉक्टरी जांच करानी चाहिए। जब यह पता चल जाए कि उसमें कोई शारीरिक दोष नहीं है तो उसे एक कोने में एक टेबिल पर अलग बिठा देना चाहिए, उसकी पसंद के खिलौने या साधन उसे दे देना चाहिए। अलग बैठा-बैठा वह यह देखता है कि दूसरे बच्चे कैसे काम करते हैं और उनका काम उसे सम्मानजनक लगने लगता है। जो बालक परिश्रमी और व्यवस्थित बालकों से लड़ाई-झगड़ा करते हैं, उनको उक्त ढंग से व्यवस्थित करके ठिकाने लाया जाता है। अलग रखे गए बालकों पर रुग्ण बालकों के जैसा ध्यान रखा जाता है। मैं कमरे में प्रवेश करते ही ऐसे

एकाकी रखे गए बालकों के पास जाती हूं, उन्हें प्यार देती हूं और तब काम में लगे अन्य बालकों की तरफ दृष्टि डालती हूं और उनसे इनके काम के बारे में बातचीत करती हूं।

अगर शिक्षण में सच्ची स्वतन्त्रता दाखिल हो जाए तो और तमाम मुश्किलों के साथ दंड व पुरस्कार की प्रथा भी समाप्त हो जाए, और बालक स्वयं-स्फुरणा से स्वतन्त्र प्रवृत्तियों में लग कर स्वतन्त्रता के मार्ग पर बढ़ने लगे, अपने आप उसमें नियमन आ जाए।

□

प्रकरण चौथा

साधनों की मीमांसा

मोंटेसरी पद्धति में किस विषय पर बल अधिक दिया जाए और किस पर कम, यह बता पाना अत्यन्त कठिन है। कई लोग कहते हैं कि इस सम्पूर्ण पद्धति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं मोंटेसरी-पद्धति के सिद्धांत, और सब बातें गौण हैं। यही नहीं, उनके बगैर काम चल सकता है।

मोंटेसरी पद्धति के सच्चे उपासक यहां तक कहते हैं कि मोंटेसरी-पद्धति, याने मोंटेसरी-पद्धति के साधन, इसके उपकरण! इनके बिना मोंटेसरी पद्धति असंभव है।

कई सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले लोगों का कहना है कि सिद्धांतों और साधनों की बात तो ठीक है, लेकिन महत्त्व की बात तो व्यक्तित्व है। डॉ. मोंटेसरी के व्यक्तित्व के बिना मोंटेसरी के साधन और सिद्धांत कहीं बेकार पड़े होते। इधर कुछ नासमझ लोग भी हैं जो मानते हैं कि अच्छी तरह से पढ़ाने में ही विशेष बात होती हैं, साधन आदि तो निमित्त मात्र हैं। कतिपय शिक्षाविदों ने एक संदेह व्यक्त करते हुए टिप्पणी की है कि साधनों को लेकर मोंटेसरी पद्धति की विजय का जो अनुमान लगाया जा रहा है, यह एक नासमझी ही है। कुछ उदार शिक्षाविद सभी पक्षों को समान रूप से स्थान देने का आग्रह करते हैं, पर वे सबसे अधिक महत्व की चीज अनुकूल वातावरण को याने परिस्थिति को गिनते हैं। कइयों की मान्यता है कि मोंटेसरी के साधनों से किंडरगार्टन शाला के साहित्य में अच्छी-खासी अभिवृद्धि होती है, हालांकि वे साधन किंडरगार्टन की तुलना में आकर्षक नहीं हैं, सृजनशक्ति और कल्पना-शक्ति के पोषक भी नहीं हैं।

ऐसी मत-विभिन्नता की स्थिति में हमें मोंटेसरी के शैक्षिक उपकरणों का वास्तविक मूल्यांकन करना है। इस पद्धति के सिद्धांत तो निःसंदेह इसके प्राण-स्वरूप ही हैं। इनके बिना साधन तो केवल जड़ चीज ही है। यही नहीं, इन सिद्धांतों के परिपालन में से ही साधनों की उत्पत्ति होती है। बात को समझने के लिए यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार देह और इन्द्रियां प्राण धारण करने, उसे व्यक्त करने के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार साधन भी सिद्धांतों को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं। मोंटेसरी पद्धति का प्राण मोंटेसरी द्वारा निर्मित साधनों में समाया हुआ है। देह और प्राण भिन्न भिन्न होते हुए भी दोनों में से ऐक्य के अभाव में जिस तरह मानवीय जीवन के अस्तित्व में कमी आ जाती है, उसी तरह सिद्धांतों और साधनों के बिना मोंटेसरी-जीवन कदापि संभव नहीं। अगर हमें मोंटेसरी-पद्धति की आवश्यकता है तो हमें इसके साधनों की जरूरत होगी ही होगी। डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं: 'मान लीजिए कि कभी मैं किसी देश में शिक्षा की उच्च अधिकारी बन जाऊं, तब भी जब तक लोग मांग नहीं करेंगे तब तक ऊंची से ऊंची शिक्षा-पद्धति को भी स्वेच्छाचारिता से शुरू नहीं करूंगी। लेकिन अगर जो नतीजे मैंने प्राप्त किये हैं, शिक्षक भी वही नतीजे चाहते हों, तो उन्हें मेरे ही साधन काम में लाने चाहिए। पर अगर वे मेरे साधनों को काम में लाने का आग्रह नहीं रखते, तो मैं उनसे मेरे साधन काम में लाने का

आग्रह नहीं करूंगी : मुझे तो एक ही बात को लेकर एतराज है कि अध्यापक मेरे साधनों में मनमर्जी से परिवर्तन करके वांछित परिणाम न आने के लिए मेरी पद्धति को जवाबदेह और दोषी न ठहरायें !

बहुत से लोगों का खयाल है कि डॉ. मोंटेसरी ने जो साधन बनाये हैं वे अपनी फलदायी तरंग के बल पर ही गढ़े हैं । इस तरह मानने की लोगों की स्वाभाविक आदत बन चली है, क्योंकि आज तक शिक्षण का स्तर अधिकांशत: लोगों की तरंग पर ही बनता आया है । अब तक लोगों ने सिर्फ यही सोचा है कि बालकों को क्या पढ़ायें और कैसे पढ़ायें—पर हर बार यही बात उनके दिमाग में नहीं आई कि किसे पढ़ाना है । याने लोगों का ध्यान विषय की तरफ गया है, विषयी अथवा विधेय की तरफ नहीं । विषय का निर्माण करते समय लोगों की दृष्टि संकुचित हो जाती है, क्योंकि वे अपने से तेजस्वी मनुष्य की कल्पना नहीं कर पाते, अतएव आज के लोगों से अधिक प्राणवान लोग बनाने का विचार रंच मात्र भी उनके दिमाग में नहीं आता ।

मनुष्य ने स्वभाववश भावी मनुष्य को अपने जैसा ही बनाना चाहा है और इसी तरह का कदम उठाया है यही कारण है कि हमारे बीच एक ही गांधी, एक ही टैगोर और एक ही लेनिन या एक ही मैजिनी हैं । ये लोग मनुष्यों द्वारा निर्मित शिक्षण-प्रणाली की जड़ता से निकल कर भागे हैं, तभी महान बने हैं या फिर इन लोगों ने स्वयं शुद्ध और सच्ची शिक्षा अर्जित की हैं, उसी का परिणाम है ।

डॉ. मोंटेसरी शिक्षा के संबंध में परंपरा की बेड़ियों से मुक्त हैं । इसकी विचार-सरणि गतानुगतिक रीति की नहीं है । बालकों के लिए इतना शिक्षण तो बहुत जरूरी है, इसके बिना हर्गिज नहीं

चलेगा—ऐसे विचारों से प्रेरित होकर जिस तरह आज के शिक्षाविद् पाठ्यक्रम निर्मित करते हैं, वैसे डॉ. मोंटेसरी ने अपने साधन निर्मित नहीं किये । अब तक के शिक्षाविदों ने शिक्षण के लिए जो भी रचना की है या साधन निर्मित किये हैं, या उनको व्यवहार में लाने की पद्धति बनाई है, उन सब के पीछे शिक्षण-विषय को केन्द्र में रखा गया है, शिक्षार्थी को याने विधेय को लक्ष्य में नहीं रखा गया है । डॉ. मोंटेसरी ने जो साधन बनाये हैं वे केवल विधेय को लक्ष्य में रख कर ही, उनके अनुरूप ही बनाये हैं, याने बालक कैसे सीखते हैं, डॉ. मोंटेसरी ने इसका अत्यंत सूक्ष्म अवलोकन किया है, और तब साधन निर्मित किये हैं । इन्होंने बालकों के पास अनेक प्रकार के साधन रख कर देखा है । बहुत सारे साधन बालकों को अनुपयोगी लगे, और उन्होंने उन्हें फेंक दिया ।

जिन साधनों को बालकों ने अपने-आप अपनी शिक्षा के लिए स्वयं-स्फूर्ति से, बिना किसी बाहरी दबाव के या लोभ-लालच के प्रयुक्त किया था, साथ ही जो साधन बालकों को अपनी पढ़ाई के लिए सक्षम प्रतीत हुए हैं और जिनमें उनको अपनी भूल सुधारने की विशेषता मालूम पड़ी है, उन्हीं साधनों को डॉ. मोंटेसरी ने बाल विकास के साधनों के बतौर मान्यता दी है । साधनों की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय के लिए मोंटेसरी ने दो नियम बनाये हैं । एक यह कि वही साधन शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी कहा जाता है जो अपने आप प्रयोग में लाने के साथ बालकों को शिक्षा दे, साथ ही उस साधन में ऐसी विशेषता होनी चाहिए कि जिससे गलत प्रयोग करने पर बालक को गलती का तत्काल पता लग जाए और वह स्वयं अपनी गलती को सुधार सके । किसी साधन में स्वयं भूल को सुधारने की शक्ति है अथवा नहीं, यह जानना मुश्किल नहीं है । साधन को काम में लाते ही फौरन पता लग

जाता है। मुश्किल है तो मात्र यही, कि उससे बालक को शिक्षण मिलता है या नहीं।

यहां यह बात समझ लेने की है कि जिन साधनों को बालक बार-बार काम में लाता है, वे उसे शिक्षण देते ही हैं। स्वतन्त्र स्थिति में रहने वाला अथवा सामान्य बालक ऐसा कुछ भी नहीं करता कि जो उसके विकास में सहयोगी न हो। डॉ. मोंटेसरी का ऐसा सिद्धांत है कि जिन साधनों को बालक बार-बार उपयोग में लाता है और जिन क्रियाओं के पुनरावर्तन में वह तल्लीन रहता है, वे साधन उसके विकास हेतु पोषक हैं ही। जिनमें बालक को आनंद मिलता है उन्हीं का वह पुनरावर्तन करता है। विकास में जो चीज मदद देने वाली होती हैं, उसी चीज में बालक को आनंद मिलता। अतः कहना न होगा कि साधनों को प्रयुक्त करने के लिए पुनरावर्तन में विकास समाहित है। इसी पुनरावर्तन से शिक्षण संभव है।

शिक्षण के साधनों की तलाश के संबंध में डॉ मोंटेसरी ने अपने विधेय का अर्थात् बालक का अनुसरण किया है। बालक की वृत्ति को और उसकी जरूरतों को इन्होंने बहुत बारीकी से देखा है और तब साधनों का निर्माण किया है। बालक को किन्हीं छिद्रों में कुछ पदार्थ डालना पसंद आता है—इस बाल-वृत्ति को ध्यान में रखते हुए डॉ. मोंटेसरी ने दृश्येन्द्रिय के शिक्षण हेतु गट्टा-पेटी और मीनार आदि उपकरण ढूंढ निकाले हैं। छिद्रों में कुछ न कुछ डालने की बाल-वृत्ति में से ऐसा साधन आविष्कृत कर लेना एक अपूर्व बुद्धिमानी है। छिद्रों से संबंधित साधन तो और भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं, फिर इस गट्टा-पेटी वाले साधन को ही आविष्कृत कैसे किया गया, यह एक विचारणीय बात है। इस साधन को मात्र इसीलिए साधन के बतौर स्वीकार किया गया है कि अन्य साधनों

की अपेक्षा बालकों ने इसी का अधिक से अधिक पुनरावर्तन किया था। गट्टा-पेटी तो विशेष रूप से एक जादुई साधन है।

मोंटेसरी द्वारा आविष्कृत साधनों के संबंध में एक विचारणीय तथ्य यह भी है कि इन्होंने इन साधनों को बनाकर जिस भांति प्रकृति मानव को अनेक प्रकार से शिक्षा देती है उसी भांति मर्यादित परिस्थिति में तदनुकूल शिक्षण देने की योजना बनाई है। अर्थात प्रकृति जिस प्रकार मनुष्य को अनुभव करा कर, ठेस लगाकर, स्वयं गलतियां सुधरवा कर ज्ञान देती है, उसी प्रकार मोंटेसरी पद्धति बालक को ज्ञान प्रदान करने का प्रबंध करती है। यह मान्यता मोंटेसरी सिद्धान्तों की विरोधी नहीं।

डॉ. मोंटेसरी द्वारा निर्धारित किये गये साधन त्रिविध विकास सिद्ध करते हैं : मानसिक, नैतिक और शारीरिक। इन्द्रिय-विकास हेतु ढूंढे गए साधन मात्र इन्द्रियों का ही शिक्षण नहीं करते। इंद्रिय विकास हेतु व्यवहार में लाने वाली शक्तियों के पीछे हमेशा एक विचार विद्यमान रहा है और उस विचार की सरणि में मानसिक विकास अपने आप आ जाता है। आगे चलकर यह भी पता लगेगा कि साधनों को काम में लाने से नैतिक विकास कैसे संभव है।

एक और विशेषता है डॉ. मोंटेसरी के साधनों की। मोंटेसरी पद्धति का उद्देश्य मनुष्य को सीधे-सीधे शिक्षित करने का नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य मनुष्य की अपनी अन्तरात्मा में जो कुछ विद्यमान है उसे यथार्थ रीति से व्यक्त करने की शक्ति देना है। इसका उद्देश्य चित्रकला, संगीत, साहित्य, इतिहास, भूगोल, वनस्पतिशास्त्र आदि सिखाना नहीं है। इनके शिक्षण हेतु साधन भी नहीं बनाये गए। फिर, मोंटेसरी पद्धति के द्वारा जो कुछ सीखा जाता है वह पद्धति का प्रदेश नहीं, अपितु पद्धति के परिणाम हैं। यह पद्धति मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के अथवा अन्त:शक्ति व्यक्त

करने के औजार देती है। प्रत्येक बालक के जीवन में एक ऐसा क्षण आता है कि जब वह अपने अन्तर्मन को व्यक्त करना चाहता है। उस क्षण बालक सफलतापूर्वक अपने मन को प्रदर्शित कर सके, इसी के लिए मोंटेसरी पद्धति के साधन निर्मित किये गए हैं। अतएव मोंटेसरी पद्धति में अनेक प्रकार के विषयों का शिक्षण नहीं किया जाता। यह पद्धति बालक के नेत्रों की शिक्षा करके रूप एवं रंग का रहस्य समझने का उसका द्वार खोलती है; स्पर्श के शिक्षण द्वारा प्रकृति की अप्रतिम कविता को समझने की शक्ति देती है; कानों की शिक्षा करके संगीत की देवी का मंदिर खोल देती है। इस प्रकार मनुष्य की शक्तियों को विकसित करके उसे स्वयं को जानने का अवसर देती है। मोंटेसरी पद्धति से व्यक्ति सीधे ही चित्रकार या गवैया नहीं बन जाता, न ही वह सीधे कवि, गणितज्ञ या लेखक बन जाता, परंतु जीवन की किसी भी दिशा में जाने के लिए इसके द्वारा सरल से सरल मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसीलिए ये साधन मात्र साधन हैं, साध्य नहीं।

मोंटेसरी पद्धति के साधनों में आपसी संबंध बहुत महत्त्व का है। एक-एक करके साधनों को काम में लाने का कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण साधन-व्यवस्था को भली भांति समझना जरूरी है। ये साधन परस्पर एक दूसरे को समझने के लिए कितने उपयोगी हैं, यह बात भी जानने की है।

मोंटेसरी पद्धति में इन्द्रियों का शिक्षण—यह एक विषय चित्रकला शिक्षण, यह दूसरा विषय लेखन-वाचन का शिक्षण, यह तीसरा विषय, यों नहीं है। सम्पूर्ण पद्धति जैसे एक वृक्ष है। इसके तने में इन्द्रियों का शिक्षण है और चित्रकला, लेखन, वाचन आदि शाखा-पत्र तने से जुड़े हुए हैं, लेकिन निकले हैं एक ही बीज में से। किसी को भी यह समझने की गलती नहीं करनी चाहिए कि अमुक

एक-दो साधनों को लेकर उनको प्रयुक्त करेंगे कि बस बालकों में उन साधनों से मिलने वाले लाभ आ जाएंगे। हमें सम्पूर्ण साधन-समूह को काम में लेने की जरूरत है। अकेला साधन निष्प्राण है। सबों के साथ मिल कर ही वह जीवंत है। भूमिति की आकृतियों को काम में लाने से लेखन और चित्रकला दोनों की दिशा उद्घाटित होती है, लम्बी सीढ़ी को काम में लाने से गणित तथा आकार के प्रदेश का मार्ग प्रशस्त होता है; महज हाथ धोने की स्वच्छता का लेखन के साथ सम्बन्ध है तथा रंग-पेटिका के ज्ञान का चित्रकला के साथ वास्ता है। मोंटेसरी पद्धति में अकेला अक्षर ज्ञान, अकेली चित्रकला या अकेले संगीत जैसी कोई बात नहीं है। सभी विषयों के संधान बिना मोंटेसरी पद्धति का कोई अर्थ नहीं। इस पद्धति की पूर्णता इसके समस्त अंगों की पूर्णता में निहित है। इसी में इसके साधनों की वास्तविक खूबी विद्यमान है। इसलिए यह मोंटेसरी पद्धति के साथ क्रमिक हैं। एक पेंच के बिना जिस तरह से पूरा सांचा ढीला पड़ जाता है, उसी तरह से किसी एक क्रम को, एकाध सीढ़ी को छोड़ देने से सारा काम बिगड़ कर नदी या तालाब में गर्क हो जाता है। कहने का आशय यह है कि या तो मोंटेसरी पद्धति को सम्पूर्णतया स्वीकार किया जाए, या फिर इसे सम्पूर्णतया त्याग दिया जाए। एक-दो साधनों को काम में लाने से कोई शाला मोंटेसरी शाला नहीं बन जाती। न ही उससे कोई लाभ मिल पाता।

उक्त विवेचन में हमने देखा कि मोंटेसरी पद्धति के साधन बालकों की वृत्ति और जरूरत के अनुसार बनाये गए हैं। सोचने की बात यह है कि बालकों की इस वृत्ति और जरूरत को डॉ. मोंटेसरी ने कैसे मालूम किया।

हर बालक को सबसे पहले अपने आसपास की दुनिया की जानकारी प्राप्त करने की जरूरत पड़ती है। वह दुनिया में जीना

चाहता है, अत: अमुक प्रकार का ज्ञान उसके लिए बहुत जरूरी है, ऐसा उसे प्रतीत होता है। यह ज्ञान संसार में चारों ओर विद्यमान है– रूप-रंग, विभिन्न आकार, विभिन्न चिकनी-खुरदरी सतहों, सुगंध-दुर्गंध, स्वादिष्ट-बेस्वाद आदि रूपों में है। यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालक को सर्व प्रथम इन्द्रिय-विकास की शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसे शिक्षण से ही बालक आगे बढ़ सकता है। इसी वजह से इन्द्रिय विकास के साधनों का मोंटेसरी पद्धति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन साधनों के दोहरे लाभ हैं। इनके द्वारा बालकों का आवश्यक विकास होता है, साथ ही ये साधन बालकों और शाला में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। जिस चीज में बालकों को आनंद मिलता है, बालक उसमें तल्लीन हो जाते हैं। तल्लीनता में ही व्यवस्था रहती है। साधनों से रहित अथवा अपूर्ण साधनों युक्त शाला में मोंटेसरी पद्धति के अनुसार जिस तरह की व्यवस्था और नियमन की अपेक्षा है, उसकी आशा नहीं की जा सकती। साधनों की जितनी परिपूर्णता होगी, नियमन के लिए उतनी ही तैयारी समझ लेनी चाहिए। सुनियमन बाहर की चीज नहीं है, न हो सकती है। जो चीज बालक को एकाग्र बनाये, उसी चीज में बालक को सुनियंत्रित, सुनियमित रखने की शक्ति हो सकती है। साधन-रहित मोंटेसरी स्कूल, याने अव्यवस्था का स्थान। इससे ज्यादा इसका और कोई अर्थ हो नहीं सकता।

ये साधन कौन-कौन से हैं और कैसे-कैसे होने चाहिए, इस सम्बन्ध में आगे सोचेंगे। पर इतनी बात तो ध्यान में रखनी ही चाहिए कि प्रत्येक साधन पूर्ण होना चाहिए। जिस तरह विज्ञान प्रयोगशाला में उपकरणों की लेश मात्र कमी या अपूर्णता चल नहीं सकती, उसी तरह मोंटेसरी शाला में साधनों की न्यूनता, अपूर्णता

या असावधानी चल नहीं सकती। इसका कारण यह है कि मोंटेसरी शाला एक प्रयोगशाला के साथ-साथ शिक्षण-शाला है। मोंटेसरी का प्रधान उद्देश्य शिक्षणशास्त्र की प्रयोगशाला खड़ी करना है, अतएव त्रुटिपूर्ण आकार वाले, बेडौल माप वाले या दोष-पूर्ण साधन मोंटेसरी पद्धति में नहीं चल सकते। अगर प्रत्येक साधन सावधानीपूर्वक बना हुआ न हो तो विद्यार्थी के विकास में विघ्न आता है; अध्यापक भी पद्धति के जिन स्वरूपों को देखना चाहता है, वह नहीं देख सकता, और जो परिणाम पद्धति के द्वारा सिद्ध हो सकते हैं, वे सिद्ध नहीं हो सकते।

मोंटेसरी पद्धति के साधन किस तरह से प्रयोग में लाये जाएं, इस सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा, पर यहां इतना कहना जरूरी है कि जो साधन जिन प्रयोजनों की सिद्ध हेतु बनाये गए हैं, उन्हें उन्हीं की सिद्धि हेतु प्रयुक्त करना चाहिए। जैसा कि ऊपर लिखा गया है इस पद्धति में प्रत्येक साधन किसी विशिष्ट उद्देश्य से, विशिष्ट शिक्षण के लाभ हेतु बनाया गया है। कोई अमुक साधन बालक अपनी मनमर्जी से, चाहे जिस ढंग से प्रयुक्त नहीं कर सकता। जिस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए जिस ढंग से साधन का इस्तेमाल करना तय किया है उससे भिन्न रीति से इस्तेमाल करना डॉ. मोंटेसरी को मान्य नहीं। इस संबंध में किंडरगार्टन वालों का मोंटेसरी से मतभेद है। किंडरगार्टन वाले कहते हैं कि इस तरह से साधनों के उपयोग को विशिष्ट और मर्यादित कर देने से बालक की सृजनशक्ति एवं कल्पनाशक्ति पर अंकुश लग जाता है। इसके जवाब में कहा गया है कि मोंटेसरी के साधनों से जो विशिष्ट लाभ अर्जित किये जा सकते हैं, भले ही बच्चे उन्हें अर्जित करें परन्तु उन साधनों के द्वारा उनकी अन्य दिशा में कल्पनाशक्ति और सृजनशक्ति विकसित करने में रुकावट न

आनी चाहिए । उल्टे, इससे तो साधन की उपयोगिता में अभिवृद्धि होती है । डॉ. मोंटेसरी इस बात का विरोध करती हैं । इनकी मान्यता है कि अमुक एक साधन को बालक एक बार अगर गलत ढंग से काम में लेने लगेगा तो बाद में उसे सही इस्तेमाल की तरफ लौटा लाना– याने साधन के वास्तविक उपयोग का लाभ दे पाना असंभव अथवा कठिन हो जाएगा । इसका यह अर्थ नहीं कि मोंटेसरी पद्धति में सृजनशक्ति और कल्पनाशक्ति के विकास की गुंजाइश नहीं । ऐसा कहा जाता है कि जब बालक किसी भी साधन का दुरुपयोग करे तो पता लगाया जाना चाहिए कि उस समय उस दुरुपयोग के पीछे बालक में विकास की कौनसी शक्ति काम कर रही है । बालक की जो सृजन शक्ति अथवा कल्पना-शक्ति मोंटसरो पद्धति के साधनों के दुरुपयोग द्वारा प्रकट होती दिखाई दे, उस सृजनशक्ति और कल्पनाशक्ति के स्वरूप को पहचान कर उसे तृप्ति, वेग और विकास मिलने जैसे साधन बालक को दिये जाएं, और वे साधन उससे ले लिये जाएं जिनका बालक सही उपयोग नहीं कर सका ।

मोंटेसरी पद्धति के साधन बालकों के चतुर्मुखी विकास का दावा नहीं करते । जो चीजें बाल-जीवन के विकास में सर्वाधिक महत्त्व की हैं और जिन्हें सिद्ध करने के लिए साधनों की भरपूर कठिनाई थी, वही साधन डॉ. मोंटेसरी ने विशेष रूप से सबसे पहले आविष्कृत किये हैं। अभी नए साधनों की गुंजाइश है ही, अतः विशिष्ट साधनों के द्वारा अन्य वृत्तियों को तृप्ति देने की बालक को इजाजत देने के बजाय अन्य वृत्तियों की तृप्ति हेतु नए-नए साधन ढूंढ निकलने की जरूरत है । इस तरह से साधनों में अभिवृद्धि हो सकती है और मूल साधनों का दुरुपयोग रुक जाता है ।

इस पद्धति के साधक क्रमिक हैं । किस क्रम से और किस

समय बालक के पास साधन रखे जाएं, इसका उल्लेख यहाँ किया गया है; साथ ही यह दिशा निर्देश किया गया कि है कि किस तरह साधनों को बालकों के समक्ष रखा जाए । साधनों के क्रम के बारे में अन्यत्र विवेचन किया जाएगा । यहां यह बताना जरूरी है कि साधनों के क्रम का निर्धारण लम्बे समय तक किये गए अनुभवों तथा प्रयोगों का परिणाम है । फिर भी इस क्रम के अधीन रहना जरूरी नहीं । जब तक यह क्रम बाल-मानस के विकास के अनुरूप है तब तक यही क्रम चलेगा । बालक अपने आप हमें बता देगा जो क्रम रखा गया है, यह यथार्थ है या नहीं । अब तक के प्रयोग से यह तय हो चुका है कि सामान्यतः बालक का विकास किस क्रम से होता है । उसके आधार पर बाल विकास के साधनों को प्रयोग में लाने का क्रम निर्धारित हुआ है । अतएव इस क्रम को प्रयोग के रूप में किसी भी जगह काम में लाया जाए तो सिद्धांत को क्षति नहीं पहुंचती । हमें यह बात समझ लेनी है कि यह क्रम किसी तरह का पाठ्यक्रम नहीं है, न ही किसी कक्षा की रचना । एक के बाद एक विकास की स्वाभाविक भूमिका पर चढ़ने के लिए जिन सीढ़ियों की जरूरत है, उसी रूप में साधनों का क्रम रखा गया है । क्रम के स्तर से जाना जा सकता है कि अमुक दर्जे पर खड़े बालक का विकास अब किस सीढ़ी से शुरू किया जाए और उसके लिए कौनसा साधन उसके सामने रखा जाए ।

बालकों के समक्ष साधनों को कैसे रखा जाए, इस संबंध में विस्तृत चर्चा का यह स्थान नहीं है अतः संक्षेप में लिख रहा हूँ । बालक की मानसिक आयु ज्ञात करके वैसे ही साधन उसके सामने रखे जाने चाहिए । बालक या तो साधन का उपयोग करेगा ही नहीं या उसका यथार्थ उपयोग करके उसे थोड़ी ही देर में छोड़ देगा, या फिर उसमें इतना तल्लीन हो जाएगा कि उसका पुनरा-

वर्तन शुरू कर देगा। अगर बालक साधन का उपयोग नहीं करे तो सोचने की बात है कि या तो वह बालक उस साधन के लिए वांछित आयु का नहीं है, या वह उसका उपयोग समझता नहीं, या बालक की उम्र बढ़ जाने से वह उसमें रुचि नहीं ले सकता या फिर वह साधन गलत है। अगर बालक की उम्र साधन के अनुकूल नहीं है तो उसे दूसरा साधन दिया जाए; अगर यों लगे कि बालक उसका उपयोग नहीं समझता तो उसे उपयोग समझाया जाना चाहिए। अगर बालक की उम्र बढ़ गई प्रतीत हो तो बड़ी उम्र वालों के लायक साधन दिये जाएं, और अगर साधन ही गलत लगे तो उसे हटाना ही उचित होगा। कई बार बालक अपनी शारीरिक अशक्तता की वजह से साधन का उपयोग नहीं करता, ऐसी स्थिति में बालक को डॉक्टरी मदद दी जानी जरूरी है। क्रम में या क्रम से बाहर, सही उम्र में या बड़ी उम्र में अगर बालक तल्लीनता पूर्वक साधनों पर काम करता है और पुनरावर्तन करता जाता है तो उसमें किसी तरह की बाधा न दी जाए। किसी भी क्षण बालक को उत्तेजित करने की कोई जरूरत नहीं है।

साधनों को लेकर समय के संदर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि प्रत्येक साधन के इस्तेमाल में बालक के मानस का एक निश्चित उम्र में सही समय आता ही है। उस सही समय पर अगर उसे साधन न दिये जाएं, और बालक इनका उपयोग न करे तो वह इनसे मिलने वाले लाभों से जीवन भर वंचित रहता है। अमुक समय ही महत्त्व का है। वह समय चला जाता है, तो समझो साधन निरर्थक हैं। अतएव साधनों की प्रस्तुति की उम्र का ध्यान शिक्षक को करना है। अमुक शक्तियों का अमुक विकास अमुक समय पर उत्तम से उत्तम होता है। यह सर्वोत्तम समय निरर्थक चला जाता है तो फिर विकास अधूरा, बेसुरा और तुच्छ है।

साधनों की प्रस्तुति का समय भले ही निश्चित न हो, पर शिक्षक तो उसे ज्ञात कर सकता है। यह अनुभव और प्रयोग का समय है।

उक्त बातों के अलावा साधनों को लेकर दो-एक बातें और ध्यान देने जैसी हैं। मोंटेसरी शाला में साधनों को सजाने का विचार उपेक्षणीय नहीं है। अगर उन्हें क्रमवार और श्रेणीवार सजाया जाता है तो व्यवस्था को पोषण मिलता है। उससे काम करते समय काम के अन्त में फिर से सजाने में शिक्षक को आसानी रहती है। एक बात और, कि शिक्षक को बालक बनकर तमाम साधन स्वयं काम में लाना जरूरी है। साधनों का परिचय काफी नहीं, इन्हें काम में लाने की क्रिया का ज्ञान ही काफी नहीं, शिक्षक को स्वयं बालक की भांति उसी गति एवं वृत्ति से काम में लेकर देखना चाहिए। एक बार नहीं, बार-बार उसे ऐसा करने से नहीं चूकना चाहिए। जब शिक्षक ऐसा करेगा तभी उसे बालक की अस्पष्ट-सी दृष्टि का अनुमान लग पाएगा और तभी वह साधारण-सी दिखाई देने वाली चीजों में बालक को कितना आनंद मिलता है, इस बात की सही कल्पना कर सकेगा।

□

प्रकरण पांचवां

मोंटेसरी शाला का वातावरण

किसी भी शाला का वातावरण कैसा होना चाहिए, इसका वास्तविक आधार शाला के उद्देश्य पर निर्भर है। मोंटेसरी शाला का उद्देश्य मनुष्य का अध्ययन करना है याने मनुष्य के मन का अध्ययन करना है। डॉ. मोंटेसरी मानव-मन के शास्त्रीय अध्ययन के लिए योग्य और उत्तम स्थल शाला को मानती हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के विकास के लिए सभी स्थानों में एक-समान परिस्थिति पैदा करने की सामर्थ्य सिर्फ शालाओं में ही है; जो अनुकूल वातावरण प्रत्येक घर उत्पन्न नहीं कर सकता अथवा प्रदान नहीं कर सकता, वह वातावरण शालाओं द्वारा दिये जाने का प्रबंध किया जा सकता है। दूसरे, सामान्यतया बालकों की एक बड़ी तादाद शालाओं में आती है और पढ़ाई के लिए काफी समय तक यहां रहती है, अतः शालाएं बालकों के मन का अध्ययन करने के स्वाभाविक केन्द्र हो जाती हैं। फिर शालाओं को ही इस काम के लिए चुनाने का डॉ. मोंटेसरी एक और कारण बताती हैं कि मनुष्य का अध्ययन करने के लिए बालक का अध्ययन करना जरूरी है, क्योंकि उसके मन का वास्तविक दर्शन सामान्यतया हमें उसके बाल्यकाल में याने बालक में ही मिलता है अतः यह मानस-दर्शन का अध्ययन सरल और संभव बन जाता है।

मानस का अध्ययन कैसे किस पद्धति से किया जाए, इस

संबंध में अन्यत्र लिखा गया है। इस प्रकरण का विषय, मानस के अध्ययन हेतु कैसा वातावरण होना चाहिए, इसी से संबंधित है। डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं : 'बालक के जीवन हेतु सर्वोत्तम परिस्थिति पैदा कर दो और फिर उसे स्वतंत्र छोड़ दो, बस उसका अध्ययन संभव हो जाएगा।' यह सर्वोत्तम परिस्थिति क्या है, यह हमें जाननी है। मनुष्य के पूर्वज जंगलों और गुफाओं में रहते थे। उस वातावरण में उन्होंने अनेक तरह से अपना विकास किया था, पर आज वह परिस्थिति नहीं रही, बदल गई। डॉ. मोंटेसरी सर्वोत्तम परिस्थिति के बारे में लिखती हैं :

'अपने विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को जिन-जिन चीजों की जरूरत है, वे सब वह जिस वातावरण से प्राप्त करता है, वही वातावरण जीवन के विकास हेतु सर्वोत्तम है।'

इसी वजह से शाला के वातावरण का निर्णय अत्यावश्यक है। शाला-वातावरण की रचना शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर की जानी चाहिए। अब तक का मनोविज्ञान ऐसे शास्त्रीय वातावरण में पलते बालक के अध्ययन पर निर्मित न होने से ही इसके सिद्धांतों को बार-बार बदलना पड़ता है। अपने दो-चार लड़कों को घर की परिस्थिति में अथवा कतिपय बालकों को शाला के कृत्रिम परिस्थिति में देखकर हम मनोविज्ञान के नियम नहीं बना सकते। भावी मनोविज्ञान उक्त शास्त्रीय वातावरण में विकासमान बालक का अवलोकन करके अपने सिद्धांत निर्मित करेगा तभी शिक्षा का मार्ग सरल एवं शुद्ध हो सकेगा।

बालक सदैव अपना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करता रहता है। इस त्रिविध विकास की सम्पूर्णता में ही शिक्षण-कार्य की कृतकृत्यता समा जाती है। इस त्रिविध विकास की संभावना के लिए अनुकूलता पैदा करने का काम शिक्षण-संस्थाओं का है।

बालक के शारीरिक विकास के लिए कैसा वातावरण होना चाहिए, इस बात का निर्णय शरीर-शास्त्र ने बहुत अच्छे ढंग से किया है। शरीर-शास्त्र द्वारा निर्धारित किया गया वातावरण हमें शाला में पैदा करना ही चाहिए। शारीरिक आरोग्य की दृष्टि से खुली हवा, स्वच्छता, अनुकूल सम-शीतोष्ण तापमान, स्वच्छ पाखाने और पेशाबघर, स्नानागार, धाने लायक शाला की जमीन, चौड़ी-चौड़ी खिड़कियां जिससे पूरा कमरा हवा से भर जाए, पौष्टिक भोजन व नाश्ता, बगीचा और विशाल छतें या बरामदे आदि प्रत्येक मोंटेसरी शाला में अत्यंत आवश्यक हैं। इनके बिना सामान्य शारीरिक आरोग्य भी संभव नहीं है।

जिस तरह शारीरिक आरोग्य की दृष्टि से उपरिलिखित वस्तुओं की एवं विशालता की आवश्यकता है उसी तरह मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अनेक बातों की आवश्यकता है। शालाओं के कमरे बहुत बड़े-बड़े होने चाहिए, सिर्फ इसीलिए नहीं कि बालकों को सांस लेने के लिए शुद्ध हवा मिले, अपितु इसलिए कि मोंटेसरी शाला में विकास करने वाले बालक को प्रवृत्तियां करने की जो स्वतंत्रता देनी जरूरी है, वह विशाल कमरों के बिना संभव नहीं हो सकती। आदर्श रूप में तो जितने स्थान की जरूरत शारीरिक आरोग्य के लिए पड़ती है उससे दुगना स्थान मानसिक आरोग्य के लिए होना चाहिए। जब हम किसी उपस्कर वाले कमरे में दाखिल होते हैं, जहां उनके जितनी ही जगह होती है या उस कमरे में घूमते हैं तो हमें एक खास प्रकार का आनंददायी सुख मिलता है, जिसका हमें थोड़ा-बहुत अनुभव है ही। उपस्कर से भरे हुए कमरे में श्वासोच्छ्वास की कोई मुश्किल सामने नहीं आती, पर ऐसे कमरे में हम आजादी से घूम-फिर नहीं सकते। अगर आर्थिक व्यवस्था हो सके तो मोंटेसरी शालाओं के लिए स्थान की पुष्कलता बहुत जरूरी है।

उपस्कर : आरोग्य की दृष्टि से सारा फर्नीचर (बालकों की टेबिलें, कुर्सियां, श्यामपट, दरियां, पानी पीने के बर्तन) वजन में हल्के और बालकों के कद के अनुरूप होने चाहिए, ताकि उसे उपयोग में लाया जा सके। साधनों को वजन में हल्का रखने का कारण सिर्फ यही नहीं कि बालक उन्हें आसानी से एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकेंगे, अपितु एक और उद्देश्य भी है। साधन वजन में हल्के होने से बालकों में संभाल कर रखने की शक्ति पैदा होती है। साधन नाजुक और कोमल होंगे तो बालक अपने काम में अधिक सावधानी बरतेंगे, सफाई और धीरज रखेंगे। जो साधन टूटते नहीं, बिगड़ते नहीं, मैले नहीं होते, उनके उपयोग को लेकर बालकों को सावधानी रखनी ही नहीं पड़ती। ऐसे साधन बालकों में रहने वाली अपूर्णताओं को प्रकट नहीं कर सकते। यही नहीं, ऐसे साधन बालकों से अधिक गलतियां करवाते हैं। लेकिन अगर नाजुक साधनों को प्रयोग में लाया जाए तो बालक अव्यवस्था अनियंत्रितता और कठोरता से धीरे-धीरे स्वत: मुक्त हो जाते हैं। साधन नाजुक होने के कारण बालक को अपनी त्रुटि बार-बार सुधारनी पड़ती है। परिणाम स्वरूप बालक इधर-उधर नहीं भटकता, हर किसी चीज से उसका पैर नहीं टकरा पाता, या हर कोई चीज उसके हाथ से गिर कर नहीं टूट पाती। अपनी समस्त क्रियाओं की नाजुक प्रकृति के कारण आगे चलकर बालक स्वतंत्र और स्वाधीन व्यक्ति बन जाता है। जिस प्रकार संगीत के श्रवण से और ध्यान की क्रीड़ा से जब बालक की कर्णेन्द्रिय, शिक्षित हो जाती है तो वह बेसुरी आवाज नहीं करता और बेसुरा वातावरण नहीं चाहता, उसी प्रकार नाजुक साधनों को काम में लाने से बालक को अपने शरीर पर ऐसा काबू आ जाता है कि परिणामस्वरूप वह अपनी इच्छानुसार अपनी हिलने-डुलने की क्रिया आनंदपूर्वक सही ढंग से करने लगता है। इन्हीं कारणों से

डॉ. मोंटेसरी वजन में हल्के उपस्करों की हिमायत करती हैं और मोंटेसरी शालाओं में कांच के प्याले, रकाबियां वापरने की सिफारिश करती हैं।

ये साधन समान्यतया सादे और कम खर्चीले होने चाहिए।

अगर साधन ऐसे हों कि जिन्हें धोया जा सके, तो अच्छा रहे, क्योंकि साधन धोये जाने से बालक में स्वच्छता का विचार तीव्रता से आता है। यही नहीं उनमें स्वच्छता का शौक पैदा होता है और वे स्वच्छ रहना सीखते हैं। धोने का और स्वच्छता रखने का काम मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान भी देता है। यही वजह है कि बालक इन क्रियाओं में रुचि लेता है।

सौंदर्य : साधनों के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व की बात यह है कि वे कला की दृष्टि से सुन्दर होने चाहिए। साधनों की विपुलता में या उसके आडंबर में सौंदर्य नहीं होता। सच्चा सौंदर्य तो सादगी में, रंग-रेखाओं के सुसंयोजन और सम्मिक्षण में है। शारीरिक-आरोग्य की या शिक्षा की दृष्टि ऐसी अंध नहीं बन जानी चाहिए कि हम अपनी शालाओं से कला का बहिष्कार ही कर बैठें। नितांत शृंगार-विहीन, नग्न और मटमैले रंग में रंगी या रंगहीन दीवारों वाली आज की शालाओं, और वहां की बदरंग बेंचों, स्टूलों, कुर्सियों और खाकी रंग की टेबिलों का देखकर हमें किसी भुतहे मकान का या किसी खंडहर-प्राय धर्मशाला का स्मरण हो आता है। शालाओं में जो कुछ अच्छी चीजें होती हैं, वे सब ऊपर टंगी हुई होती हैं और जो कुछ बिगड़ा हुआ होता है, जिसका रंग काला या राख जैसा हो गया हो या जो टूट न सके ऐसा लकड़ी या लोहे का बना हुआ हो, उसे नीचे रखा जाता है। यह तमाम नीरस वातावरण बालक के हित में उसे शिक्षित करने के लिए रचा जाता है, क्योंकि वर्तमान शिक्षाविदों और शिक्षकों के मतानुसार विक्षेप डालने

वाली चीजें अगर मौजूद रहती हैं तो बालक का ध्यान भंग होता है और पढ़ाई में बाधा पड़ती है। यह स्थिति सचमुच विचारणीय है कि अध्यापक अत्यंत परिश्रम करके अपने शाब्दिक शिक्षण को बालक के मस्तिष्क में उतारने और इसके लिए भटकते एवं ऊधमी मन वाले छात्रों का ध्यान निरर्थक एकाग्र करने के लिए शाला के वातावरण से सौंदर्य निष्कासित करना चाहे। जिन शालाओं में आर्थिक कारणों से सुन्दर वातावरण संभव नहीं है, वहां के अध्यापकों की मानसिक शक्ति भी एक ही प्रकार की है। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच ऐसा कुछ हर्गिज नहीं आना चाहिए कि जिससे शिक्षण-कार्य को क्षति पहुंचे—इस सिद्धांत का ही परिणाम है कि आज की शालाएं गंदी और विद्रूप हैं। आने वाले कल की शालाएं—मोंटेसरी शालाएं सौंदर्य प्रधान वातावरण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देंगी। पैसा हो तो शाला में सौंदर्य का स्थान अमर्यादित है, ऐसा डॉ. मोंटेसरी कहती हैं। जो बालक सचमुच अपने काम में तल्लीन है उसे शाला की शोभा बाधक प्रतीत नहीं होती। बल्कि, सौंदर्य एकाग्रता की प्रेरणा देता है और थके हुए मन को आराम, शांति व आनंद देता है। ध्यान एवं शांति के सर्वोत्तम स्थल हमारे देव-मन्दिर कई बार श्रेष्ठ सौंदर्य युक्त कलाकृतियों से युक्त देखने में आते हैं, उनकी यही वजह है। विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के जीवन के वास्तविक विकास का स्थल यही है, जहां अप्रतिम सौंदर्य का अभाव नहीं। अगर हमें अपने विद्यालयों को मानवीय विकास की अवलोकन-भूमि—प्रयोग-शालाएं बनाना हो तो शालाओं को सौंदर्य से विमुख हर्गिज नहीं रखा जा सकता।

आज के यांत्रिक शक्ति के तथा आधिभौतिक दृष्टि से जीवन-यापन करने वाले जन-समुदाय के युग में सौंदर्य का इतना संहार हो

रहा है कि जितना पहले कभी नहीं हुआ। आज के साधन सुन्दर जरूर कहे जाते हैं, पर वस्तुत: सुन्दर नहीं हैं– सुन्दरता की थोड़ी-बहुत मीमांसा करने वाले को भी इसका तत्काल अनुभव हो जाता जाता है। डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि अगर हम लोक कलाओं का पुनरुद्धार करने की दिशा में प्रवृत्त हो जाएं तो शाला के उपस्कर के लिए हमें ऐसे-ऐसे पदार्थ मिल जाएंगे कि जो सुन्दर भी हैं और सस्ते भी। अच्छा जीवन व्यतीत करने वाले लोगों ने जो लोककला विकसित की है वह कला की दृष्टि से तो अमूल्य है ही, आर्थिक दृष्टि से भी अत्यंत सस्ती है। सौंदर्य कीमती चीजों में नहीं रहता। सौंदर्य का वस्तु के साथ संबंध नहीं है, अपितु वस्तुओं से उद्भूत होने वाली प्रेरणा अथवा चेतना से संबंधित है। हमें वस्तु के मूल्य पर सौंदर्य को आधारित नहीं करना है, अपितु वस्तु में रहने वाले प्राण की उच्चता पर आधृत रखना है। आज अगर हम अपनी लोक कला की तलाश करेंगे तो ऐसी अनेक चीजें मिल जाएंगी, जो शाला के उपस्कर के लिए उपयोगी होंगी।

चलने-फिरने की स्वतंत्रता : शारीरिक आरोग्य की दृष्टि से चलने-फिरने का अर्थ सीधा-सादा है। इनकी स्वतंत्रता का अर्थ भी सीधा-सादा है। बालकों को घूमने-फिरने की आजादी है, इसका अर्थ हम यही लें कि बालकों को मनमर्जी अनुसार इधर-उधर खेलने-कूदने की छूट है।

आरोग्य के संबंध में ध्यान रखने वाला कोई भी व्यक्ति बालक की इस प्रवृत्ति का विरोध नहीं करेगा। खुली हवा में इधर-उधर कूदने-भागने से बालक के शारीरिक स्वास्थ्य को पोषण मिलता है, इसमें दो राय नहीं है।

जब हम शाला में आने वाले बालक की स्वतंत्रता की बात करते हैं तो हम स्वतंत्रता का यही अर्थ लेते हैं कि बालक शाला

की बेंचों और डेस्कों पर उछल-कूद करेंगे, भागेगें-दौड़ेंगे और दीवारों से टकरा कर गिर पड़ेंगे। इसी खयाल से शाला में स्वातंत्र्य की कल्पना करते समय हम कक्षा के कमरे की विशालता की बात सोचते हैं। हमें लगता है कि अगर छोटे-छोटे कमरों में बालकों को घूमने-फिरने की छूट दे देंगे तो अव्यवस्था फैल जाएगी, पढ़ाई और अनुशासन मुश्किल हो जाएगा। पर मोंटेसरी शाला में स्वातंत्र्य की ऐसी कल्पना नहीं है। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से चलने-फिरने को स्वतंत्रता का ऐसा संकुचित अथवा एकांतिक अर्थ नहीं है। मात्र शारीरिक उछल-कूद या दौड़-भाग की स्वतंत्रता, यह तो स्वतंत्रता का नितांत प्राथमिक विचार है, यह स्वातंत्र्य केवल पशु का स्वातंत्र्य है। बेशक, बालक को इस स्वातंत्र्य से रहित नहीं रखना चाहिए, लेकिन इससे एक कदम आगे बढ़कर बालक को मानसिक आरोग्य की स्वतंत्रता भी देनी चाहिए।

बालक को मनमर्जी से घूमने-फिरने की स्वतंत्रता देने का अर्थ मानसिक आरोग्य के अनुकूल वातावरण देना नहीं है। एक पक्षी को विस्तृत और सीधे-सपाट मैदान में चलने की स्वतंत्रता दे दें तो उस बेचारे का जीवन किरकिरा हो जाएगा। पक्षी का स्वतंत्र 'घूमना-फिरना' उम्दा ढंग से किसी वृक्ष की डालियों पर अथवा डालियों की आकृति में इधर-उधर जमाई गई लकड़ियों पर उछल-कूद करने में समाहित है। स्वतन्त्र गतिविधि करने के लिए सही परिस्थिति पैदा किये बिना मुक्त छोड़े गए पक्षी की स्वतंत्रता दुखद ही है। यही बात बालकों पर भी लागू होती है। सिर्फ चलने- फिरने या घूमने की स्वतंत्रता ही काफी नहीं है। बालकों को चलने के लिए चलना पसंद नहीं आता। जब बालकों से अपने आप कसरत करने या खेलने को कहा जाता है तो वे अधीर हो जाते हैं और बहुधा वे शोर मचाने लग जाते हैं या

आपस में झगड़ने लगते हैं, कई बार वे ऊपर से छलांगें मार कर कूदने लगते हैं। अपने आप वे ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियां करते हैं कि जिनका परिणाम अच्छा नहीं निकलता। इससे उनका शारीरिक स्वास्थ्य जरूर अच्छा होता है, कोई और फायदा नहीं होता। इस तरह की स्वतन्त्रता में बालकों की घूमने-फिरने की गतिविधि बेढंगी बन जाती है, जैसे वे अभी गिरे या कहीं गिर पड़ेंगे। बार-बार सहज रूप से गिर भी जाते हैं और चीजें तोड़-ताड़ देते हैं जिस तरह से बिल्ली के बच्चे कुदरती तौर से अपनी शक्ति की परिपूर्णता प्रेरणानुसार कर लेते हैं, वैसे बालक नहीं कर सकते। बिल्ली के बच्चे को शिक्षण न भी दें तब भी उनकी शक्ति पराकाष्ठा तक पहुंच जाती है, परन्तु बालक में इस तरह की सम्पूर्णता तक पहुंचने के लिए कुदरती तौर पर प्रेरणा का बल नहीं होता।

बालक का स्वतन्त्र घूमना-फिरना सोद्देश्य होना चाहिए। अगर विवेकपूर्ण सोद्देश्यता न होगी तो बालक अपनी घूमने-विचरने की गतिविधि से थक जाएगा। अगर किसी व्यक्ति को हम उद्देश्य हीन घूमने-विचरने को कहें तो उसे अपना जीवन भारस्वरूप लगने लगेगा। प्राचीन काल में गुलामों को जो कठोरतम दंड दिया जाता था उनमें से एक यह होता था कि जमीन के भीतर गहरे-गहरे गड्ढे खोदो और फिर वापिस बूर दो। इसका कारण यही था कि निरुद्देश्य काम करते-करते गुलाम उकता उठें और उन्हें परेशानी महसूस हो। प्रयोगों से यह तथ्य सामने आया है कि उद्देश्यपूर्वक किये गए जितने काम से जितना परिश्रम महसूस होता है उसकी तुलना में उद्देश्य के बगैर किये गए उतने ही काम में बहुत ज्यादा परिश्रम लगता है। आज की मानसिक रोगों वाली शालाओं से ऐसी सिफारिश की गई है कि खुली हवा में कसरत कराने की बजाय खुली हवा में काम कराना ज्यादा बेहतर होता है।

उक्त विवेचन का संक्षिप्त आशय यही है कि घूमने-विचरने की निरी स्वतंत्रता बालक के लिए उपकारक नहीं होती। प्रत्येक स्वतंत्र गतिविधि किसी न किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही आयोजित की जानी चाहिए। ऐसी स्वतंत्र गतिविधि में ही बालक का मानसिक स्वास्थ्य निहित है। अतः हमारे लिए यह एक विचारणीय विषय है कि ऐसी घूमने-विचरने की स्वतन्त्र गतिविधि के पीछे कैसा उद्देश्य हो अथवा ऐसी गतिविधि किन प्रवृत्तियों के रूप में की जानी चाहिए।

प्रवृत्तियां दो प्रकार की हैं। एक वे प्रवृत्तियां हैं जिनमें बुद्धि का परिमाण नहीं है। इनका काम मन और स्नायु-व्यापारों में समन्वय लाना है। इन प्रवृत्तियों से चीजों का निर्माण नहीं होता, अपितु निर्मित वस्तुओं की रक्षा होती है। झाड़ू लगाना, कपड़े मसलना, जूते साफ करना, टेबिल-कुर्सी को धोना या पौंछना, दरी बिछाना या समेटना आदि प्रवृत्तियां ऐसी ही हैं। ये दो प्रवृत्तियां एक-दूसरे से निराली हैं। चीजें निर्मित करना कारीगरों का काम है, जबकि चीजों को संभालकर रखना अन्य लोगों का। चीजों को निर्मित करने में उच्च कोटि की बुद्धि का प्रयोग करना होता है जबकि उन्हें संभालने में इतनी उच्च कोटि की बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति सादी है। यह प्रवृत्ति कूदने, नाचने, दौड़ने जैसी ही है। यह ऐसी प्रवृत्ति है कि जिससे कूदने, नाचने, दौड़ने आदि की प्रवृत्ति को बल मिलता है; साथ ही तृप्ति मिलती है। इसीलिए डॉ.मोंटेसरी ने इस प्रवृत्ति को बालक के मानसिक स्वास्थ्य के विकास का पोषक माना है क्योंकि इसके द्वारा बालक अपनी स्वतन्त्र गतिविधि का समन्वय करना सीखता है।

इस तरह की प्रवृत्ति देने के लिए डॉ. मोंटेसरी ने अपनी पद्धति में व्यावहारिक जीवन-शिक्षण की योजना बनाई है।

व्यावहारिक जीवन की शिक्षा में ही घूमने-विचरने की स्वतंत्र गतिविधि का समावेश हो जाता है, जो बालक के मानसिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। इसका अर्थ यह हुआ कि घूमने-विचरने की आजादी के साथ-साथ बालकों को व्यावहारिक जीवन की शिक्षा भी मिलती रहेगी। इसके लिए वातावरण अच्छा होना चाहिए। बालक के पास ऐसे पदार्थ हों जो उसकी शक्ति और कद के अनुरूप उपयुक्त हों। बालक स्वयं उठाकर ले जा सकें, ऐसा फर्नीचर हो, स्वयं टांक सकें इतनी ऊंचाई की खूंटियां हों, ऐसे ताले हों जिन्हें वह स्वयं खोल या बंद कर सकें, पहियेदार छोटी-छोटी पेटियां हों, हल्के-हल्के खिड़की-दरवाजे हों, जिन्हें बालक आसानी से खोल-बंद कर सकें, साफ-सफाई के साधन भी इतनी ही ऊंचाई पर हों कि बालक आसानी से उनका उपयोग कर सकें, बालक के छोटे-छोटे हाथों से पकड़ी जा सकें ऐसी झाड़ू हों, छोटे-छोटे साबुन के टुकड़े हों, पानी के बर्तन इतने कम वजनी, कि बालक खुद उठा कर ले जा सकें और उन्हें खाली कर सकें; पतले हत्थों वाली झाड़ू हो और ऐसे कपड़े हों कि जिन्हें स्वयं उतार या पहन सकें आदि आदि इस वातावरण के लिए जरूरी वस्तुएं हैं। ऐसे वातावरण में इन तमाम साधनों का उपयोग करने की बालक में वृत्ति जागेगी और इनके प्रयोग से धीमे-धीमे बालक अपनी गतिविधि को सुन्दर एवं सम्पूर्ण बना सकेगा।

घूमने-फिरने की ऐसी प्रवृत्ति के लिए जब बालक के सामने एक नवीन क्षेत्र खुलता है तो वह उसमें रहते हुए अपना विकास करता है और इंसानियत प्राप्त करता है। ये क्रियाएं बालक सिर्फ करने के लिए ही नहीं करता, अपितु अपने बहुमार्गी व्यक्तित्व के विकास के लिए करता है।

अपने विकास में सहयोगी एवं संरक्षक ऐसे वातावरण में

आजादी के साथ काम करते-करते, अपने सहपाठियों के संसर्ग से पैदा होने वाली सामाजिक भावनाओं को जीते-जीते और स्वयं जिस वातावरण में पल रहा है और जिस पर अधिकार प्राप्त कर रहा है उस वातावरण द्वारा आत्मविकास की इच्छा को मिलने वाली तृप्ति का अनुभव करते-करते परिणामत: बालकों में हर प्रकार की जवाबदारी का ज्ञान पैदा हो जाता है।

बालक के मानसिक विकास के लिए मोंटेसरी पद्धति में आवश्यक वातावरण की योजना है। मोंटेसरी का प्रबोधक साहित्य (डाइडेक्टिक एपरेटस) बालक की इन्द्रियों का विकास सिद्ध करता है, जिसके परिणामस्वरूप मानसिक विकास का द्वार खुलता है और मानसिक विकास निर्मल बनता है। प्रबोधक साहित्य के संबंध में साहित्य मीमांसा वाले प्रकरण में विस्तार से लिखा गया है। डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि जिस तरह शारीरिक आरोग्य और विकास के लिए अमुक आहार और आहार के अमुक प्रमाण की जरूरत है उसी प्रकार मानसिक विकास के लिए भी अमुक निश्चित साधनों की जरूरत है। ये साधन ऐसे होने चाहिए कि जो बालक को मन की आजादी दे सकें तथा बालक को मानसिक विकास की अन्य जड़ताओं से मुक्त कर सकें। ये साधन ही मोंटेसरी के 'प्रबोधक साहित्य' कहलाते हैं।

आध्यात्मिक विकास के वातावरण के बगैर शारीरिक एवं मानसिक विकास के साहित्य प्राथमिक आवश्यकता के हैं। संगीत, कला और साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में कम सहयोगी नहीं। इसके अतिरिक्त सत्संग और शाला का आदर्श वातावरण भी आध्यात्मिक विकास हेतु आवश्यक तत्त्व हैं।

शाला का वातावरण समस्त विक्षेपों से मुक्त रहना चाहिए। बालक का मन भटकता रहता है, पल भर भी स्थिर नहीं रह

सकता, इस विचार को डॉ. मोंटेसरी ने गलत सिद्ध किया है। इनकी शाला में अगर हम जाकर देखें तो कई बार घंटों तक बच्चे अपने काम में तल्लीन देखने को मिलेंगे। पर वहां भी ऐसे आकर्षण अथवा विघ्न हो सकते हैं जो बालकों की एकाग्रता में बाधा डालें। शाला को इन तमाम तत्त्वों से मुक्त रखना जरूरी है। अगर शाला किसी शोर-शराबे वाली अशांत जगह पर होगी तो यह एक विघ्न है, और अगर साधनों एवं स्थान के परिमाण में कहीं बालक अधिक तादाद में होंगे तो यह दूसरा विघ्न है; किसी शाला की सामग्री अव्यवस्थित रूप से बिखरी पड़ी हो, समय पर उपयोग में न ली जाए तो यह तीसरा विघ्न है। जिस प्रकार अत्यावश्यक सामग्री के न होने की स्थिति में शाला के काम में अपूर्णता रह जाती है उसी प्रकार अनावश्यक या अतिशय सामग्री के रहने से भी शाला-कार्य में अव्यवस्था आ जाती है। शाला का वातावरण हमेशा प्रवहमान होना चाहिए, याने वह तमाम निरर्थक उपाधियों से मुक्त रहना चाहिए। यही नहीं, उसमें हमेशा नयापन रहना चाहिए। हमेशा-हमेशा की एकरूपता से हर किसी को ऊब पैदा होती है और स्वाभाविक आकर्षण जाता रहता है।

मोंटेसरी शाला की अत्यन्त सफलता का आधार उत्तम वातावरण पर ही अवलंबित रहता है, यह बात मोंटेसरी-अध्यापकों के लिए कदापि विस्मृत कर देने की नहीं है।

□

प्रकरण छठा

मोंटेसरी अध्यापक

'आज के समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है शिक्षा पद्धति का पुनर्गठन। जो भी व्यक्ति इस कार्य के लिए मैदान में उतरता है, समझ लो कि वही मनुष्य के उद्धार के लिए एक युद्ध लड़ रहा है।'

जिस किसी भी अध्यापक के हृदय में डॉ. मोंटेसरी के गुरु सर्गी के उक्त शब्द अंकित है, उसी को यह अधिकार है कि इस तरह की शालाओं में कदम रखे।

मोंटेसरी शाला एक प्रयोग-भूमि है। ऐसी शालाओं के लिए अध्यापकों को तैयार करने का काम बहुत कठिन है। इन शालाओं में मात्र सिद्धांतों को जानने वाले अध्यापकों का अथवा मोंटेसरी शाला में काम लाये जाने वाले उपकरणों का परिचय व उपयोग जानने वाले अध्यापकों का काम नहीं है।

जिस व्यक्ति में उक्त विश्वास है, समाज के कल्याण की उग्र भावना है वही व्यक्ति मोंटेसरी शाला का अध्यापक बन सकता है। मोंटेसरी शाला का अध्यापक बालकों को पढ़ाने के लिए नहीं आता। वह सिर्फ पोथी-पंडित नहीं है अपितु शिक्षा-गुरु है, एक वैज्ञानिक है। बालकों को पढ़ाना एक बात है और उनको अपने आप विकसित होते देखना दूसरी बात है। उनको पढ़ाने की

किसी भी योजना में उन्हें विकास करते हुए देखने की बात एक तरफ अलग रह जाती है या नितांत भुला दी जाती है। जबकि उनका अवलोकन करने की योजना में उन्हें पढ़ाने की बात स्वतः ही आ जाती है, क्योंकि बालक अपने आप जो क्रियाएं करते हैं, उन्हीं में उनका विकास—उनकी पढ़ाई समाहित रहती है। पढ़ाने की आदत रखने वाला अध्यापक मोंटेसरी शाला में असफल ही रहेगा क्योंकि अवलोकन और पढ़ाना दोनों साथ-साथ नहीं निभ सकते। ऐसी शाला का अध्यापक नये किस्म का व्यक्ति होना चाहिए, अथवा अगर वह पहले से अध्यापक हो तो उनका पुनर्जन्म हुआ होना चाहिए, याने उसका नया अवतार हो जाना चाहिए।

मोंटेसरी शाला के शिक्षक को सबसे पहले वैज्ञानिक होना चाहिए। नयी पद्धति के शिक्षण को अपने समस्त पुराने आचार-विचार त्याग कर नए नाम से शुरुआत करनी चाहिए। साथ ही अगर उसने भिन्न-भिन्न मत-पंथों की मान्यताएं स्वीकार कर ली हों तो उनसे मुक्ति पा लेनी चाहिए। उसके प्रयोगों का अमुक परिणाम आए ही आये इस खयाल से उसे प्रयोग करने की कल्पना तक नहीं करनी चाहिए। ऐसे शिक्षक को तो अपने अवलोकनों और प्रयोगों के पीछे-पीछे चले आने वाले परिणाम तक पहुंचना है। देह-मापन (एन्थ्रोपोमेट्री) और मनोमापन (साइकोमेट्री) के गहन ज्ञान से मनुष्य विज्ञानवेत्ता नहीं बन सकता। बालकों के शरीर की नाप-जोख करने से या उनकी सूक्ष्म जानकारी ले लेने से बालक का अवलोकन पूरा नहीं हो जाता। ऐसी जानकारी अपने आप में साध्य नहीं, एक गौण साधन है। प्रयोग शाला में बैठा-बैठा औजारों का कुशल संचालन करने वाला व्यक्ति विज्ञानवेत्ता नहीं है, न ही जो रसायनशास्त्र की प्रयोगशाला में रसायनों पर त्रुटिहीन काम कर रहा है या जो प्राणि-

विज्ञान के अध्ययन के लिए सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखने की वस्तु के नमूने तैयार रख सकता है, उसे विज्ञानवेत्ता कहा जाएगा। तब भला किसे कहेंगे वैज्ञानिक ? इसके लिए डॉ. मोंटेसरी के शब्दों को ज्यों का त्यों समझने की जरूरत है :

'वैज्ञानिक उसे कहा जाएगा जो जीवन के रहस्यों को तलाशने तथा जीवन के चामत्कारिक रहस्यों पर पड़े पर्दे को हटाने के प्रयोगों को मात्र साधनभूत अथवा मार्गदर्शक मानकर चलता है, जिसे इन सत्यों की शोध करते-करते प्रकृति के गूढ़ रहस्यों से प्रेम हो गया है, और जो इस प्रेम में अपनी हस्ती को भूल जाता है, अर्थात् इस प्रेम में जिसने अपने व्यक्तित्व के विचार को नितांत मार दिया है, समाप्त कर दिया है।'

वैज्ञानिक प्रकृति का निष्ठावान पुजारी होता है, उसका जीवन और जगत प्रयोगशाला में ही समाप्त हो जाता है। बाहरी संसार को वह भुला देता है। वह अपने बारे में शायद ही कभी सोचने की फुरसत निकाल पाता होगा। वह क्या खाता है, क्या पीता है, कैसे कपड़ें पहनता है, इन बातों की लेश मात्र परवाह नहीं होती उसे। सूक्ष्मदर्शन यंत्र का उपयोग करते-करते कई बार वह आंखें खो बैठता है। क्षय के कीटाणुओं का पता लगाते-लगाते कई बार वह स्वयं उनके हाथों पकड़ में आ जाता है। उसे हैजे के रोगियों के मल-मूत्र जांच करने में या उनका विश्लेषण करने में जरा भी नफरत नहीं होती। वह ऐसा साहसी होता है कि रसायन के प्रयोग से अगर विस्फोट हो गया तो पहले वही उड़ जाएगा—इस तथ्य को जानते हुए भी वह जोखिम भरे कामों में संलग्न होता है। ऐसे ही लोग वैज्ञानिक कहलाते हैं। इनमें जो अभिमान, जो उग्रता, जैसा जोश और जैसी दृष्टि होती है, वैसे अभिमान, उग्रता, जोश और वैसी दृष्टि के बिना कोई वैज्ञानिक

नाम धारण करने का पात्र नहीं बन सकता। ऐसे नवीन रंग से युक्त मनुष्य का ही प्रकृति प्रेम से वरण करती है, इसे ही अपने रहस्यों की अमूल्य भेंट प्रदान करती है और इसके साहस व श्रम को प्राप्त करती है। इनके परिश्रम को ही विजयश्री प्राप्त होती है। आज का सुखी और प्रगतिशील संसार इन्हीं लोगों के परिश्रम का आभारी है।

वैज्ञानिकों की इसी दृष्टि में व्यक्ति की वैज्ञानिकता विद्यमान रहती है। शोध कार्य में व्यवहृत साधनों-उपकरणों पर नियंत्रण करने की कुशलता में यह दृष्टि नहीं रहती। साधनों के नियंत्रण से दूर है यह दृष्टि। जब व्यक्ति इस दृष्टि की साधना करता है, तब विज्ञान की गोदी में नई चीजें प्रेमस्वरूप आ पाती हैं और तभी निर्मल विज्ञान की तात्त्विक घटना जन्म लेती है।

डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि शिक्षक की तैयारी में इसी वैज्ञानिक दृष्टि की प्राप्ति प्रयोगशाला में व्यवहृत उपकरणों के ज्ञान से अधिक मूल्यवान है। शिक्षक की तैयारी में मुख्यत: इसी दृष्टि को बढ़ाने की जरूरत है। प्रयोग के उपकरणों के ज्ञान की बजाय वैज्ञानिक दृष्टि की दिशा में शिक्षक की प्रामाणिकता शिक्षक के रूप में उसकी सच्ची तैयारी का प्रमाण है। मोंटेसरी शाला के अध्यापकों के लिए मानववंशशास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) के, प्रायोगिक मनोविज्ञान के अथवा बाल-स्वास्थ्य विज्ञान के गहन-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। उन्हें इन विषयों के उतने ही ज्ञान की जरूरत है ताकि वे प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर सकें, तथा अपने प्रयोग में लाने वाले साधनों को वांछित जानकारी से व्यवहार में ला सकें। संक्षेप में, नये अध्यापक के लिए भिन्न-भिन्न विज्ञानों को जानना जरूरी नहीं है। पर उसे अपने भीतर वैज्ञानिकों की शास्त्रीय दृष्टि तथा प्रयोग में लाने योग्य आवश्यक

साधनों को काम में लाने की जानकारी जरूरी है। मोंटेसरी शिक्षक में प्रकृति के अवलोकन के प्रति अद्भुत रुचि होनी चाहिए। जिस तरह रसायन का या अन्य प्रयोग करने वाला व्यक्ति प्रयोग शुरू करके आतुरता और अद्भुत चमत्कार के दर्शन की दृढ़ आशा से यह जानने को बैठता है कि उसका क्या परिणाम आता है, ठीक वैसी ही आतुरता और वैसी ही आशा की वृत्ति मोंटेसरी शिक्षक को अपने में विकसित करनी जरूरी है।

प्रकृति को समझने के लिए बेशक उपकरणों की जरूरत पड़ती है साथ ही उन्हें इस्तेमाल में लाने के ज्ञान की भी जरूरत पड़ती है। पर उनका मूल्य फकत उतना ही है जितना कि भाषा ज्ञान के लिए वर्णाक्षरों का ज्ञान होना। जिस प्रकार वर्णमाला के ज्ञान की मदद से हम पुस्तक में विद्यमान समर्थ लेखकों के अद्भुत विचारों को ग्रहण कर सकते हैं, उनका आनंद और लाभ उठा सकते हैं वैसे ही उपकरण भी प्रकृति के अनंत रहस्यों से युक्त विशाल ग्रंथ को पढ़ने की वर्णमाला मात्र हैं। छापेखाने का कम्पोजिटर सभी पुस्तकों की वर्णमाला और शब्द या वाक्य पढ़ सकता है, पर उन्हें समझ नहीं सकता, वही स्थिति उस अध्यापक की होती है जो सिर्फ प्रयोग के उपकरणों को काम में लाने का ज्ञान रखता है। डॉ. मोंटेसरी बलपूर्वक कहती हैं कि हमें अध्यापक को जड़ कम्पोजिटर नहीं बनाना। फकत मानववंश शास्त्र या मनोमापन के ज्ञान से शिक्षक विज्ञान की वर्णमाला ही जान सकता है।

जिस शाला का मुख्य उद्देश्य बाल-मन के विकास के क्रम का अवलोकन करना तथा उस विकास-क्रम के अनुकूल वातावरण एवं साहित्य तैयार करना है उस शाला के शिक्षक की योग्यता तथा तैयारी वर्तमान शिक्षक की योग्यता एवं तैयारी से भिन्न प्रकार की

होनी चाहिए। मोंटेसरी शाला मनोविज्ञान का एक श्रेष्ठ प्रयोग क्षेत्र है। ऐसी शाला के अध्यापक की तैयारी नये ढंग से ही होनी चाहिए। इस तैयारी की सम्पूर्णता से ही आज के शिक्षक का नया जन्म होगा। इससे उसके व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में असाधारण परिवर्तन आएगा। डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि इस नवीन शाला और इस नवीन शिक्षक का परिवर्तन एक ही लक्ष्य में जाने वाला, एक ही दिशा का संधान करने वाला और एक ही केन्द्र से निकलने वाला होना चाहिए। जब शाला का उद्देश्य पढ़ाने का नहीं अपितु बाल-मन के विकास का दर्शन करना हो जाता है तब स्वाभाविक रीति से शाला शाला नहीं रह जाती अपितु एक प्रयोगभूमि बन जाती है। इस प्रयोगभूमि में शिक्षक भी शिक्षक नहीं रह पाता, अपितु एक वैज्ञानिक बन जाता है। हमने ऊपर देखा है कि वैज्ञानिक कौन होता है। अब हम यह देखेंगे कि ऐसे वैज्ञानिक के किन-किन गुणों की शिक्षक के लिए आवश्यकता है।

विज्ञान के सभी उपासकों में कई गुण सामान्य होते हैं। विशिष्ट विषय का ज्ञान वैज्ञानिक को विशिष्ट रूप से होना चाहिए। इसके अलावा सामान्य रीति से अनिवार्य कतिपय गुणों के बगैर, विशिष्ट ज्ञान होने के बावजूद वैज्ञानिक, वैज्ञानिक नहीं रहता, एक दर्शनशास्त्री बन जाता है। शरीर-विज्ञानी, भौतिक विज्ञानी, रसायन विज्ञानी, खगोलवेत्ता, वनस्पतिवेत्ता और प्राणि-विज्ञानवेत्ता यद्यपि अपने-अपने विशिष्ट विषय के ज्ञान में एक दूसरे से पृथक होते हैं, तथापि अपने शास्त्र के उपासक के रूप में तो एक जैसे ही है। उपासक होने के नाते ये दर्शनशास्त्रियों से भिन्न होते हैं। इनमें विद्यमान यह समानता विज्ञान की वस्तुगत समानता नहीं है, अपितु विज्ञान की दृष्टि वाली समानता है। अगर

हमें शिक्षण के काम में अन्य विज्ञानों की पंक्ति में लाने की क्षमता पैदा करनी है तो इसके उपासकों को वैज्ञानिकों की उपासना-पद्धति स्वीकार करनी पड़ेगी। इसीलिए इस वैज्ञानिक-शिक्षक को अपने भीतर वैज्ञानिक वाले गुणों का विकास करना चाहिए।

वैज्ञानिक-शिक्षक का प्रमुख एवं अत्यावश्यक गुण-धर्म है अवलोकन करना। अवलोकन कार्य में ज्ञान-समृद्धि तथा इन्द्रिय अस्तित्व ही काफी नहीं है। व्यक्ति देखते हुए भी नहीं देख पाता, सुनते हुए भी नहीं सुन पाता, यह हम जानते हैं। हमारी इन्द्रियां हमारे साधारण व्यवहार का काम करती हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि इन्द्रियों में अवलोकन शक्ति नहीं है। संस्कारित इन्द्रियां ही अवलोकन कर सकती हैं। अवलोकन की आदत लम्बी अवधि के अवलोकन के मुहावरे से बन पाती हैं। जिसकी आंखें अवलोकन की अभ्यस्त नहीं बनीं, अगर कभी उसे दूरबीन से तारा-मंडल दिखाया जाए अथवा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कीटाणु दिखाये जाएं तो दिखाने वाला चाहे जितनी देर तक शब्द-चित्र से उसे बताने की कोशिश करे कि उसे क्या देखना चाहिए, पर अभ्यस्त न होने के कारण वह दिखाई जाने वाली चीज देख नहीं सकता। इसी कारण से जब कोई नई शोध होती है तो शोधकर्ता सादी भाषा में इस बात को व्यक्त कर देते हैं ताकि सामान्य लोग उसे निरी आंखों से देख सकें। शोध के गूढ़ रहस्य की बातें किसी राहगीर के सामने नहीं रखी जा सकतीं, क्योंकि वह सामान्यत: अवलोकन की शक्ति से युक्त नहीं होता। अवलोकन करने के लिए भी व्यक्ति को शिक्षण लेने की जरूरत है, क्योंकि जो चीज देखने की है उसे वह न देख सके तो देखना, न देखना बराबर। सच्चे वैज्ञानिक की सम्पूर्ण आत्मा अपनी अवलोकनीय वस्तु के रस में पूरी तरह निमग्न रहती है। जो इस निमग्नता को ही अनुभव न कर सके उसकी अवलोकन

शक्ति बहुत कम है। जिसकी अवलोकन शक्ति विकसित हो चुकी है उसे अपने काम में आनंद आने लगता है और इसी वजह से उसमें प्रयोगशास्त्री या वैज्ञानिक की आत्मा जन्म ले लेती है। जब अध्यापक अवलोकनीय वस्तु में तल्लीन हो जाएगा तो स्वत: ही उसके व्यक्तित्व में असाधारण परिवर्तन आ जाएगा। बस तभी शिक्षक में नए प्राण, नयी चेतना जागेगी।

जिन शिक्षकों ने शास्त्रीय अवलोकन की शिक्षा नहीं ली, उन्हें मोंटेसरी पद्धति के लायक बनने के लिए तात्त्विक एवं व्यावहारिक तालीम की जरूरत है, और जो लोग वर्तमान शालाओं में प्रचलित पुरानी स्वेच्छाचारिता वाली पद्धति के अभ्यस्त हैं उन्हें तो इस तालीम की खास तौर से जरूरत है। बालगृहों के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के अपने अनुभवों से मेरी दृढ़ मान्यता बन गई है कि पुराने शिक्षकों में और मोंटेसरी पद्धति में बहुत अन्तर है। बुद्धिमान अध्यापक, जो इस पद्धति के सिद्धांतों को अच्छी तरह से समझ जाते हैं, वे भी इसे व्यवहार में लाने में बहुत मुश्किलें महसूस करते हैं। इसमें एक खास बात यह है कि अंतरिक्ष में घूमते हुए ग्रहों को जिस प्रकार कोई खगोलविद शांति से स्थिर बैठ कर दूरबीन से देखता रहता है, वैसी ही स्थिरता से बिना कुछ किये शिक्षक को भी शांति से देखते रहना है। यह बात शिक्षक की समझ में नहीं आती।

जीवन स्वत: विकसित होता है। इसका अध्ययन करने के लिए, इसके गूढ़ रहस्य को जानने के लिए या इसकी प्रवृत्ति को चित्रित करने के लिए पहले इसे देखने की और बीच में आए बिना इसका अर्थ समझने की जरूरत है। इस विचार को समझदारी से आत्मसात करना और व्यवहार में लाना बहुत कठिन है।

आज के अध्यापक की मान्यता कुछ इस कदर बद्धमूल हो गई

है कि विद्यालय में जैसे मात्र वही कुछ क्रिया करने को स्वतन्त्र है। अपने विद्यार्थियों की प्रवृत्तियों का गला घोंट देने की मानो उसे आदत पड़ गई है। बालगृह के प्रारंभिक दिनों में जब वह शांति और अनुशासन नहीं देखता, तो घबरा कर इधर-उधर देखने लगता है। कौन जाने लोगों से इसके लिए क्षमा मांगता हो! अंत में जब हम उसे कुछ न करके मात्र अवलोकन करते रहने का ही काम सौंपते हैं तो वह कहता है : 'अब मेरी अध्यापक के रूप में कोई जरूरत नहीं रही, इसलिए नौकरी छोड़ने की इजाजत दे दीजिए।'

जब इस पुराने ढंग के शिक्षक के सामने यह विवेक करने का अवसर आता है कि बालक को किन कामों से रोका जाए और उनकी किन-किन प्रवृत्तियों का अवलोकन किया जाए, तब उसे अपने भीतर की कमी समझ में आती है कि इस नये कार्य के लिए वह कितना अक्षम है। संक्षेप में, जिसकी किसी भी तरह की पूर्व तैयारी नहीं होती, वह लम्बे समय तक शर्मिंदा तथा क्रियाहीन रहता है। परन्तु जिस शिक्षक में संस्कारिता अथवा शास्त्रीयता अधिक होगी वह मर्म की बात फौरन समझ जाएगा। उसके समक्ष विकासमान जीवन के चमत्कार साकार होंगे।

बालगृह की 'प्रेक्टिसिंग स्कूल' में प्रारंभ के दिनों में मेरे विद्यार्थी इस तरह व्यवहार करते हैं। बालक क्या करते हैं इसका रहस्य जानना, उनका अवलोकन करना, तथा उनके काम में विवेक से फर्क किये बिना वे प्रत्येक बालक को न हिलने-डुलने का हुक्म दे देते हैं। एक छोटी बालिका थी। उसने अपने आसपास अपने दोस्तों को इकट्ठा कर लिया और उनके बीच बैठ कर उनके साथ बातचीत व शरारत करने लगी। तभी शिक्षक वहां दौड़ता-दौड़ता गया और उसने कंधा थपथपा कर चुप रहने का

आदेश दिया। पर मैं जानती थी कि वह लड़की 'शिक्षक...शिक्षक' या 'मां...मां' का खेल खेल रही थी; वह दूसरे बालकों को प्रार्थना करना सिखा रही थी; संतों की कैसे आराधना की जानी चाहिए, वह सब नकल उतारती हुई बता रही थी। एक अन्य बालक, जो प्रत्येक काम को हमेशा अव्यवस्थित रीति से बेढंगी तरह से करता था और जिसे सामान्यतया विचित्र समझा जाता था, वह एक दिन एकाग्रता-पूर्वक सारणियां उलटने लगा। तभी शिक्षक भागा आया। बहुत खटखटाहट कर रहे हों, यों कहते हुए उसने उसे बिना हिले-डुले सीधे खड़ा रहने का हुक्म दिया। बालक का यह काम एक सुनिश्चित उद्देश्य का था। उसके विकास का यह प्रथम दर्शन था। इसके द्वारा बालक अपना विशिष्ट रुझान व्यक्त कर रहा था, इसी से उसका वह काम समादर के योग्य था। सच मानें, उस दिन से वह बालक शांत व सुखी बनने लग गया। जब भी कभी छोटे-मोटे उपकरण उसे हिलाने-डुलाने के लिए मिल जाते, वह उन्हें कोई आवाज किये बिना काम में लेने लगा। भला उस बालक की भूल क्षमा योग्य कहां थी! कभी ऐसा भी होता है कि शिक्षक तमाम उपकरणों को उनके यथा स्थान रख देता है। तब जिस तरह शिक्षक उन उपकरणों के साथ क्रिया करता है, वैसे ही करके सीखने के लिए कोई छोटा बच्चा उसके पास जाता है और साधन लेने लगता है। तभी उससे कहा जाता है: 'जा, अपनी जगह जाकर बैठ जा।' ऐसा व्यवहार करना अच्छी बात नहीं है। बालक तो अपने लिए कोई नया और उपयोग काम सीखना चाहता था। अगर शिक्षक ने उसे रोका न होता तो वह अपने आप व्यवस्थित हो जाता और सलीके का सबक ही सीखता।

एक दिन पानी की एक थाली के आसपास बालक बैठे थे, बातें कर रहे थे और हँस रहे थे। थाली के पानी में खिलौने तैर

रहे थे। हमारी शाला में ढाई वर्ष का एक बच्चा था। उसके चेहरे पर इतनी तीव्र जिज्ञासा थी कि जो उसके चेहरे से स्पष्ट जाहिर थी। मैं उसे बहुत दूर से आनंदपूर्वक देख रही थी। पहले वह घेरा बना कर बैठे हुए उन बालकों के पास गया और धक्का मार कर थाली के पास जाने की कोशिश करने लगा। लेकिन उसका कोई बस नहीं चला। तब वह इधर-उधर ताकता हुआ खड़ा रहा। उसके नन्हे-से मुखड़े पर जो भाव तैर रहे थे वे देखने योग्य ही थे। अगर मेरे पास केमरा होता तो जरूर उसके फोटो ले लेती। उसके चेहरे पर आशा विद्यमान थी। वह उस कुर्सी की तरफ जा रहा था कि शिक्षक ने उसे उज्जड़ व्यक्ति की तरह उठा लिया और दूसरे लड़कों से ऊंचे उठा कर थाली में रखे खिलौने दिखाते हुए बोला: 'आ, मेरे नन्हें मुन्ने! तू भी देख ले।'

उस बालक को अपने बल से विघ्न-बाधाएं दूर करने में जो आनंद आ रहा था, वैसा आनंद उन तैरते खिलौनों को देख कर नहीं मिला। कुर्सी लाने की उसकी युक्तियुक्त कोशिश से उसकी अंत: शक्ति का विकास हुआ होता। खिलौने देखने मात्र से उसे क्या लाभ मिला होता? शिक्षक ने उस बालक को स्व-शिक्षण से रोका, बदले में कुछ और दिया नहीं। यह नन्हा मनुष्य जिस क्षण विजयी होने वाला था, उसी क्षण शिक्षक की हाथों रूपी बेड़ियों में फंस गया और अशक्त बन गया। आनंद, आतुरता तथा आशा के जो भाव देखने में मैं तल्लीन हो गई थी वे भाव उसके चेहरे से काफूर हो गए थे और उसके बदले ऐसे भाव छा गए, जैसे दूसरे लोग उसके बदले कोई व्यवहार करते हैं और वह उन्हें पसंद नहीं आता, तब उनके चेहरे पर जैसे भाव होते हैं, वैसे। आखिरकर शिक्षक ने मेरे कहने पर उकता कर बालक को अपनी इच्छानुसार काम करने दिया। शिक्षक शांत होकर बैठ गया। बच्चे टेबिल पर

चढ़कर कूदने लगे, और उनकी उंगलियां उनके मुंह और नाक में दिखाई दीं। कई बच्चों को तो मैंने अपने दोस्तों को पछाड़ते देखा। कइयों के चेहरों पर प्रहारक चिह्न दिखाई दिये, उस समय मैंने बीच में पड़कर शिक्षकों को बताया कि जो कुछ होना नहीं चाहिए, उसे अत्यन्त सख्ती से रोकने की और धीमे-धीमे उसे दबा देने की जरूरत है ताकि बालक धीरे-धीरे अच्छे-बुरे का फर्क साफ-साफ समझने लग जाए। अवलोकन करने में इन सबका ध्यान कितने महत्त्व का है, यह बात उक्त घटना से ही समझ में आती है।

अवलोकन करने की शक्ति में कतिपय गौण शक्तियों का समावेश होता है। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है धीरज। शिक्षक के लिए यह अत्यन्त महत्त्व का गुण है। धैर्यहीन व्यक्ति की अगर वैज्ञानिक से तुलना करें तो वह नेत्र-विहीन अन्धे की तरह है। वह अपनी निरी आंखों से तो देख नहीं सकता, पर उसमें कृत्रिम आंखों—दूरबीनों–लेंस आदि से देखने जितना भी धीरज नहीं होता।

कई लोगों की खगोल के चमत्कार देखने-जानने की इच्छा होती है। पर उनमें उस काम हेतु आवश्यक धीरज नहीं होता। खगोलवेत्ता आकाशीय दृश्य देखने के लिए अपनी दूरबीनें सजाने में समय लगाते हैं, यह बात ऐसे लोगों को जरा भी पसंद नहीं आतीं। जब वे लोग धैर्य, सावधानी व परिश्रम से अपने काम में बहुत व्यस्त होते हैं तो ऐसे लोग मन ही मन बड़बड़ाया करते हैं कि 'यह कैसी बात? यह तो समय गंवाना हुआ। इस तरह तो हम अपना समय बरबाद नहीं कर सकते!' सामान्य लोगों की ऐसी वृत्ति होने के कारण जब विज्ञानवेत्ताओं को उन्हें विज्ञान संबंधी चमत्कार दिखाने होते हैं तब वे अपने यन्त्र—दूरबीन, सूक्ष्मदर्शक

यन्त्र आदि पहले से ही सजा कर रखते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि ऐसे लोगों की इच्छा एकदम जल्दी-जल्दी बहुत सारा देख लेने की होती है।

लोग किस कदर अधीर होते हैं तथा अपनी इस आदत की वजह से वे कुछ भी देख क्यों नहीं सकते, यह बात एक महिला के उदाहरण से मोंटेसरी ने यों बतानी चाही है।

एक विज्ञानवेत्ता के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से एक महिला को एक बार कौशिकीय तन्तु (सेलूलर टिशू) देखने का अवसर मिला। जैसे कोई नया, महत्त्वपूर्ण, चामत्कारिक काम उसे नहीं करना है, इस तरह शांति से गंभीरता पूर्वक, सावधानी से वैज्ञानिक अपनी कुर्सी से खड़ा हुआ और अपनी तैयारी करने लगा। कांच के जिस टुकड़े पर उसे कौशिकी तन्तु रखना था, उस कांच के टुकड़े को और उस पर लगे ढकने को वह धैर्य से सावधानी पूर्वक साफ करता है। फिर उसने स्पिरिट में संभाल कर रखे कौशिकी तन्त्र का एक बारीक टुकड़ा काट कर निकाला और उसे कांच के टुकड़े पर रख दिया। तब उसने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के कांच को ढंग से साफ किया और उसका फोकस मिलाया। इस पूरी अवधि में वह महिला भीतर ही भीतर घुटती रही। मन ही मन बड़बड़ाने लगी: 'मेरे पास इतना फालतू समय कहां है। अभी मुझको बहुत सारा काम करना है। सचमुच मुझको अमुक-अमुक जगहों पर जाना है। वहां गए बिना काम नहीं चलेगा। मैं तो अब अध्यापक महोदय को बुरा न लगे वैसे कह दूंगी कि कृपया मुझे जाने की इजाजत दे दो!' अंत में जब वह सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के अन्दर कौशिकीय तन्तु देखती है तो उसे किसी भी तरह का आनंद नहीं आता। कौशिकीय तंतु उसे बहुत मामूली चीज लगती है क्योंकि उसका मर्म जानने की वैज्ञानिक दृष्टि उसमें नहीं है। तब वह बड़बड़ा उठती है: 'हे प्रभु!

मैं यहां न आई होती तो कितना अच्छा होता । मैंने अपना कितना कीमती समय गंवा दिया ।'

डॉ. मोंटेसरी लिखती है कि ऐसे लोगों को सचमुच कोई काम नहीं होता। ज्यादातर ये लोग अपना समय इधर-उधर भटकने में और व्यर्थ की गप्पें मारने में बिता देते हैं। यह बात नहीं है कि इनके पास समय नहीं है, अपितु सचाई यह है कि इनमें धीरज नहीं है। जो व्यक्ति अधीर होता है वह वस्तु का रहस्य भली-भांति नहीं समझ सकता। वह वस्तु की महिमा की यथा-शक्ति कद्र भी नहीं कर सकता।

अधीरता की ऐसी आदत को दूर करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। अगर हमें इस संसार के वास्तविक परिचय में आना है और सचमुच ही इसकी कद्र करनी है तो अवश्य ही हमें अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण बढ़ाना ही चाहिए। धैर्य के इस गुण के बिना, जिससे विज्ञान जनम लेता है, इन छोटी-छोटी बातों की तरफ अपना ध्यान और वजन देने में हमारी आदत ही नहीं बनती। जो व्यक्ति विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है, उसमें बेकार के कामों में भी सजगता तथा लम्बे समय तक एकाग्रता की खास ज़रूरत है। यही शक्ति उसका अमूल्य धन है। प्रत्यक्ष रूप से क्षुद्र लगने वाली वस्तु के पीछे सावधानी से तथा सतत संलग्न रहने की शक्ति से शिक्षक में वैज्ञानिक दृष्टि उद्भूत होती है। महान लोग जाहिरा तौर पर क्षुद्र दिखने वाली, तथापि अत्यन्त महत्त्व की शोध करने के पीछे काफी समय गंवा देते हैं। यही नहीं, वे बहुत नन्हें बच्चों की तरह अपनी शोध के साहित्यों (उपकरणों) के साथ मानो खेल रहे हों, यों लगता है। धैर्य के गुणों को विकसित करके इस तरह की समय बिताने की कला और बालपन को हम प्राप्त कर सकते हैं।

नम्रता धैर्य का मूल है। अगर वैज्ञानिक सचमुच निरभिमानी है तो चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अपनी छोटी-सी टेबल के पास खड़े-खड़े काम करने में ही अपना बड़प्पन समझता है। युनिवर्सिटी द्वारा उपाधि के समय पहनाये गए गाउन की बजाय वह स्वयं काम करते समय जो साधारण मजदूर वाली पोशाक धारण करता है, उसका मूल्य अधिक है। वह उपदेशक का अधिकार जताता हुआ हम को यह बात नहीं समझाता कि अमुक सत्य तो सनातन ही हैं, क्योंकि वह सत्यान्वेषी होता है। वह अपने विद्यार्थियों कहता है: 'आओ, हम सत्य का पता लगायें। जो सत्य हमारे हाथ लगे, उसे स्वीकार करें।' वह विद्यार्थियों को फकत सिद्धांत ही नहीं सिखाना चाहता, अपितु उन्हें सत्य की खोज करना तथा उनके लिए प्रवृत्ति करना भी सिखाता है। उसके लिए छोटी बात और बड़ी बात दोनों एक सरीखी है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति, समग्र लक्ष्य, सारा समय एक नन्हीं से नन्हीं तथा क्षुद्र से क्षुद्र दिखाई देने वाली वस्तु के लिए खर्च करने को हमेशा तैयार रहता है। समाज में उसे चाहे जितना मान-सम्मान मिल जाए, या चाहे जितनी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाए, तथापि वैज्ञानिक नितांत वैसा का वैसा रहता है। उसकी वृत्ति रंच मात्र भी चलायमान नहीं होती। अपना वास्तविक नाम और प्रतिष्ठा वह अपने काम में ही समझता है। सच्चा वैज्ञानिक भले ही संसद-सदस्य हो या प्रधान मन्त्री, उसे किसी जीव-जंतु या नये प्राणी के अवलोकन में ही सच्चा आनंद मिलेगा। ऐसे वैज्ञानिक मत-मतांतरों के गुलाम नहीं होते। ये लोग मिथ्या अभिमानी नहीं होते, न ही किसी तरह का ममत्त्व रखते। ये तो निपट सत्य के पुजारी होते हैं। सत्य का दर्शन होने के साथ ही ये अपने अति-प्रिय आदर्शों और दृढ़ मान्यताओं को पल भर में त्याग देते हैं। सत्य

की आग में अपने पूर्वग्रह एवं पूर्व धारणाएं जला डालते हैं। जो-जो चीजें इनके लिए सत्य-दर्शन में विरोधी होती हैं अथवा जो इनके मार्ग में बाधक बनती हैं, उन सब का ये परित्याग कर देते हैं। ये लोग सदैव प्रलोभनों से मुक्त रहने तथा अपना मन निर्मल व सत्य जैसा खुला रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इनका उद्देश्य हमेशा असत्य से विमुख रहने का तथा सत्य का योग साधने का होता है।

इन्हीं कारणों से बाल-रोगों का चिकित्सक वर्तमान समाज में शिक्षक से उच्च पद का उपभोग करता है, क्योंकि वह अपने व्यवसाय का पूर्ण ज्ञाता होता है तथा अपनी वृत्ति और दृष्टि एक वैज्ञानिक जैसी रखता है, जबकि आज का शिक्षक नीम-हकीम जैसे व्यवहार करता है। फिर भी आज का चिकित्सक और आज का शिक्षक एक ही गलती कर रहे हैं। जबकि चिकित्सक रुग्ण बालकों के अध्ययन से अपने सिद्धांत बनाते हैं, तो शिक्षक अपने त्रुटिपूर्ण शिक्षण से बालक की आत्मा को घोट देते हैं।

लेकिन जिस दिन शिक्षक बालक की आत्मा को पहचान कर वास्तविक सत्य को ग्रहण कर लेगा, उस दिन शिक्षण क्षेत्र में कितना सुंदर-सुखद परिवर्तन आ जाएगा! उस दिन उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में कैसा अद्वितीय परिवर्तन आ जाएगा! ऐसी ऊंचाई व शिष्टता प्राप्त करने से पहले शिक्षक को अपने भीतर वैज्ञानिक के गुण–नम्रता, अवलोकन तथा धैर्य विकसित करने होंगे; अज्ञान और खोखलेपन के कारण पैदा अभिमान को तोड़ना होगा। जब वह इतना करेगा तभी विज्ञान की देवी उसे वह प्रसाद देगी, उसे ऐसी पैगंबरी वाणी प्रदान करेगी कि जिसे सुनते ही लोगों के दिल थम जाएंगे।

शिक्षक में उपर्युक्त गुणों—अवलोकन, धीरज और नम्रता की तो जरूरत है ही, इनके बिना वैज्ञानिकों वाली दृष्टि आ नहीं सकती।

वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करने के लिए प्रकृति की पूजा करना शिक्षक की एक तैयारी है, तो मानव-प्रेम उसकी दूसरी व अत्यन्त महत्त्व की तैयारी है। वैज्ञानिक को तो मात्र अमुक जंतु या जंतु-समूह या सूर्य-चंद्रादि ग्रहों का अवलोकन करना होता है, जबकि शिक्षक के अवलोकन का तो पात्र ही स्वयं इंसान होता है। वैज्ञानिक को तो किन्हीं जीव-जंतुओं की प्रातःकाल से सायंकाल तक चलने वाली स्थूल क्रियाओं का ही अवलोकन करना होता है, जबकि मोंटेसरी शिक्षक को बालक के मानसिक-बौद्धिक विकास की शोध हेतु अवलोकन करना होता है। प्राणीशास्त्र या वनस्पतिशास्त्र के अध्येता का अपने अध्ययन की वस्तु के प्रति जीवंत संबंध या प्रेम नहीं होता। वे चीजें मात्र अध्ययन के लिए ही उसके समक्ष विद्यमान होती हैं। उनके जीवन के बारे में, उनके प्रति प्रेम या उनके भावी उद्धार के बारे में उसे चिंता नहीं होती, यह स्वाभाविक है। अपने प्रयोग के लिए वस्तु के प्रति आत्मीय लगाव रखना, उसकी सुविधा का ध्यान रखना, उसके प्रति ममत्व रखना— ये सब बातें वैज्ञानिक में होनी चाहिए। ये भी कम महत्त्व की चीजें नहीं है। इनके अवलोकन के पीछे परेशानियां झेलने का पागलपन तथा स्वयं को समर्पित कर देने की उनकी व्यग्रता भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। पर मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम सर्वाधिक नाजुक चीज है। यह प्रेम अत्यधिक निर्व्याज होता है तथापि भव्य होता है। वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करने के लिए इसकी जरूरत पड़ती है। पर बहुत कम सौभाग्यशाली लोग ही यह दृष्टि प्राप्त कर पाते हैं, जबकि मनुष्य के अधिकारी तो सभी बन सकते हैं।

भगवान ने प्रेम करने का मानवीय अधिकार चन्द संस्कारी लोगों अथवा वर्ग के लिए ही सुरक्षित नहीं रखा। यह अधिकार नैसर्गिक है और सार्वजनिक है।

यह प्रेम कैसा हो, इस सम्बन्ध में जीसस क्राइस्ट का एक प्रसंग यहां उद्धृत है।

जिस समय क्राइस्ट अपने शिष्यों को एक ऐसे महाराज्य के बारे में बता रहे थे, जो सांसारिक नहीं है, तब निष्कपट हृदय वाले शिष्यों ने भगवान से पूछा : 'गुरुदेव ! कृपया यह बताये कि स्वर्ग के महाराज्य में सबसे बड़ा कौन समझा जाएगा ?' भगवान ने एक नन्हें निरीह बालक के सिर को सहलाते हुए कहा : 'जो इस नन्हें बालक के जैसा होगा, वही स्वर्ग के महाराज्य में सबसे बड़ा समझा जाएगा।' ये शब्द सुनने के बाद उन शिष्यों में से कोई एक, या जिन पर इनका असर हुआ होगा, वे बालक जैसे शुद्ध हृदय को प्राप्त करने हेतु उत्सुक हुए होंगे, इसकी हमें कल्पना करने की जरूरत है। ऐसा व्यक्ति बाल-हृदय की तलाश में निकल पड़ेगा। बालक के प्रति प्रेम एवं आनंद से ओतप्रोत यह व्यक्ति पवित्र जिज्ञासा और बालक जैसी निर्दोषता प्राप्त करने की भावना से प्रेरित होकर बाल जीवन के सभी अंशों, सभी प्रवृत्तियों, और सभी मानसिक आध्यात्मिक प्रदर्शनों को देखने के लिए तत्पर हो उठेगा। जीसस क्राइस्ट का ऐसा शिष्य बाल-हृदय को प्राप्त करके स्वर्ग के महाराज्य को जरूर प्राप्त कर लेगा। वर्तमान शिक्षक को ऐसा ही होना चाहिए—याने वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न तथा जीसस क्राइस्ट के शिष्य जैसा सम्मान-युक्त प्रेम से परिपूर्ण। शास्त्रीय दृष्टि तथा प्रेम दोनों से ही शिक्षक की सच्ची आत्मा प्रकट होती है।

शिक्षक में एक और क्षमता होनी चाहिए। इस क्षमता के बल पर ही शिक्षण-विज्ञान अन्य विज्ञानों से भिन्न तथा ऊंचे दर्जे

का हो सकेगा। वैज्ञानिक के अवलोकन या प्रयोग के विषय—जैसे विद्युत शक्ति, रसायन शक्ति, प्राणि-जीवन, तारे आदि—का वैज्ञानिक के अपने जीवन से सीधा संबंध नहीं। परन्तु शिक्षक का विषय स्वयं मनुष्य है। किसी वैज्ञानिक को अपने प्रयोगों में जितना आनंद आता है, उससे भी कहीं अधिक आनंद बालकों के मानसिक विकास के दर्शन से शिक्षक को मिल सकता है। इस अवलोकन से शिक्षक में आत्म-जागरण और आत्म-बोध पैदा होता है। अपने जैसी ही अन्य आत्माओं से संसर्ग से उसकी भावनाएं जगमगा उठती हैं। उसे महसूस होता है कि सभी प्राणियों में उसी की आत्मा विराजमान है। वैज्ञानिक के जिन गुणों की उसमें अपेक्षा है, वे गुण उसमें तब समाविष्ट हो जाएंगे, जब वह सच्चा शिक्षक बन जाएगा। जब अध्येता और अध्ययन की वस्तु ताने-बाने की तरह एक-दूसरे में समा जाएगी, तभी वैज्ञानिक-गुणों का और साधु-जीवन का सुसंयोग होगा; तभी विज्ञान से सत्य वस्तु का निर्झर बहने लगेगा और आधिभौतिक वैज्ञानिकों और संतों का अनुभव एक जैसा हो जाएगा। साधु के लक्षणों तथा वैज्ञानिक के लक्षणों में परस्पर अनेक रीति से समरूपता हैं। धैर्य और नम्रता जैसे उत्तम गुणों से ही वैज्ञानिक जड़-सृष्टि का योग सिद्ध कर सकता है और इन गुणों के द्वारा ही संत पुरुष चेतन-सृष्टि के—विशेष रूप से मनुष्य के गहन मर्म को जान सकता है। वैज्ञानिक के गुण स्थूल मर्यादा से बंधे होते हैं अर्थात उसके गुण अमुक उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए ही हैं, जबकि संत पुरुष ऐसे गुणों की मूर्ति होता है। याने ऐसे गुण संत पुरुष के जीवन से जुड़े होते हैं। दोनों का त्याग और दोनों की रसिकता अमर्यादित होती है। वैज्ञानिक अपने अवलोकन-क्षेत्र की मर्यादा में स्थूल-दृष्टा हैं, जबकि संत-पुरुष सूक्ष्म अथवा चेतन-सृष्टि

के द्रष्टा हैं। यही नहीं, अपितु वे स्थूल जगत और उसके पीछे रहने वाली नियमन-शक्ति को अधिक स्पष्टता से देख सकते हैं और उसे चेतन से भर सकते हैं।

आज का वैज्ञानिक जानता है कि प्रत्येक जीवंत वस्तु अद्‌भुत चमत्कार का स्थान है। उसे विश्वास हो चुका है कि जो अत्यंत स्वाभाविक है, सादा है, अत्यन्त प्राथमिक दशा में है उससे हम बहुत आसानी और द्रुत गति से स्वाभाविक नियम प्राप्त कर सकते हैं और यही चीजें हमारे लिए मूढ रहस्यों एवं गंभीर सत्यों के हल में मददगार हो सकती हैं। संत फ्रांसिस को इस बात का बोध था। महान पिता की सादी से सादी कृति में उस पिता की महत्ता समाई हुई है, इसका उसे भरोसा हो चुका था। अपने तहखाने की खिड़की के पास वाले अंजीर के पेड़ पर बैठे एक हरे मादा टिड्डे से उसने कहा : 'ओ मेरी बहन! जरा और नजदीक आ और मेरे पास बैठ।' प्राणी जितना छोटा होगा उतना ही अपने कर्त्ता की शक्ति और भलाई की अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्ट विशेषता व्यक्त करेगा।

वैज्ञानिक के लिए प्रत्येक छोटी चीज अत्यन्त महत्त्व की होती है। वह ऐसी ही वस्तुओं पर अपना सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्यान देता है। एक छोटे के जीव के पैरों में कितने जोड़ हैं या एक नाकुछ पतिंगे के पंखों में कितनी रेखाएं– नसें हैं, यह देखकर वैज्ञानिक को असीम आनंद प्राप्त होता है। जहां सामान्य व्यक्ति की नजर नहीं जाती, वहां वैज्ञानिक का मन एकाग्र हो जाता है। संत पुरुष भी ऐसे ही क्षुद्र दृश्यों के अवलोकन में तल्लीन हो जाते हैं। यही नहीं, इन्हें देखते ही इनके हृदय से उस समर्थ सिरजनहार के प्रति स्तुति के स्रोत्र फूट पड़ते हैं।

जब संत फ्रांसिस ऐसे दृश्य देखते थे तो उनके हृदय में

आत्मिक आनंद पैदा हो जाता था और उनके हृदय से अपने आप उस महान पिता की स्तुति का गान फूट पड़ता था। उन्होंने एक बार एक पतिंगे को देखा और उसके हृदय में प्रविष्ट होकर गाया : अरे! परियों जैसे सुन्दर पंख किसके दिये मुझे, कि जिनसे मैं एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर और एक डाली से दूसरी डाली पर झट से, मगर आसानी से कूद सकता हूं? ये मजबूत कमान जैसी छोटी-छोटी हड्डियां किसने दी है! साथ ही ये कांच के गोले जैसी चमचमाती आखें मुझे किसने दी हैं कि जिनसे मैं आगे- पीछे देख सकत हूं और अपने दुश्मनों को पहचान सकता हूं? उस समर्थ पिता ने ही मुझे ये सुनहरे, नीले, हरे पंख—आकाश और वृक्षों के सुन्दर रंगों से ओत-प्रोत पंख दिये हैं।

शिक्षक की दृष्टि वैज्ञानिक जैसी सजग और निर्मल होनी चाहिए तथा संत पुरुषों जैसी प्रेम पूर्ण व आध्यात्मिक होनी चाहिए। विज्ञान जैसी प्रामाणिकता तथा संतों वाली पावनता शिक्षक की तैयारी के दो आधारभूत स्तंभ हैं। शिक्षक की वृत्ति शास्त्रीय और दैवी दोनों प्रकार की होनी चाहिए।

शिक्षक में शास्त्रीय दृष्टि का होना जरूरी है, क्योंकि जो काम उसे करना है वह अत्यन्त सावधानी एवं जागरूकता का है। गहन व सूक्ष्म अवलोकन के द्वारा शिक्षक को सत्य के बहुत समीप पहुंचना है। उसे अपनी तमाम भ्रांतियों को तिलांजलि देनी है, अपनी तमाम कल्पना-जन्य मान्यताओं से उसे दूर हटना है तथा सत्य-असत्य का अन्तर बहुत सूक्ष्मता से जानना है। कुल मिलाकर शिक्षक में ऐसी शास्त्रीय दृष्टि की आवश्यकता है जिसके द्वारा वैज्ञानिक की भांति वह किसी छोटी से छोटी वस्तु अथवा घटना को तिलांजलि दे सके, आंखों को भ्रांति में डालने जैसी समस्त घटनाओं से दूर रहे, तथा सत्य की खोज में जो बाह्य उपाधियां

अथवा तत्त्व प्रविष्ट होकर घोटाला पैदा करते हैं उन्हें छोड़ सके। ऐसी शास्त्रीय दृष्टि प्राप्त करने के लिए लंबे मुहावरे और जीवन-शास्त्रीय दृष्टि से मानव जीवन के विशाल अवलोकन की जरूरत है।

शिक्षक में दैवी दृष्टि की आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य स्वयं अपने अवलोकन का विधेय है, उसे अपने अवलोकन का लाभ प्रदान करना है। यही नहीं, अपितु अपने अवलोकन का विषय स्वयं है दैवी है, आध्यात्मिक है।

डॉ. मोंटेसरी कहती है कि 'शिक्षक का दर्जा बहुत ऊंचा है। इसीलिए मैं उसे अनेक प्रकार के ज्ञान से सज्जित देखना चाहती हूं।' ये कहती हैं : 'मैं अध्यापक को विज्ञान की सहायता से चेतन-सृष्टि के साधारण से साधारण प्रसंगों का अवलोकन करने की शक्ति प्राप्त करने को प्रेरित करती हूं। मैं उसे सूक्ष्मदर्शी बनाती हूं। उसे वनस्पति संरक्षण का ज्ञान देती हूं। वह स्थूल शारीरिक विकास के क्रम का कैसे अवलोकन करे, इसकी शिक्षा देती हूं। मैं उसे छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं का अवलोकन करने की प्रेरणा देती हूं तथा जीवन शास्त्र के सर्वमान्य नियमों का अध्ययन कराती हूं। मैं सिर्फ सिद्धांत का शुष्क ज्ञान देकर संतोष नहीं करती, अपितु उसे स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोगशाला में तथा प्रकृति के मध्य काम करने के लिए उत्साहित करती हूं। इसके साथ ही साथ मैं उसे बालक की स्थूल मानसिक तथा आध्यात्मिक जरूरतों का, कैसे अवलोकन किया जाए और कैसे वहां तक पहुंचा जाए, रहस्य भी सिखाती हूं।'

शिक्षक का क्षेत्र वैज्ञानिक की तुलना में अधिक व्यापक एवं भव्य है। शिक्षक को तो मनुष्य के आंतरिक जीवन का अवलोकन करना है। जिस मानव-जीवन का उसे अवलोकन करना है, जिस

जीवन की सेवार्थ उसे अपना जीवन समर्पित करना है, उस जीवन के लाक्षणिक चिह्न हैं–भव्य कला, उदात्त प्रेम और पवित्रता। ये चिह्न शिक्षक के अपने ही जीवन के अंश हैं। इसी से शिक्षक को मनुष्य का अवलोकन, जिस तरह वैज्ञानिक को अपना अवलोकन रूखा लगता है, वैसा रूखा नहीं लगता, क्योंकि यहां तो मनुष्यों के माध्यम से शिक्षक स्वयं को देखता है, स्वयं का ही अध्ययन करता है, अपनी ही आत्मा की पहचान कर सकता है। जब बालक के आत्म-विकास के दर्शन से शिक्षक की आत्मा जगमगा उठेगी, और जब उसके भीतर अवलोकन-कार्य में गम्भीर सात्त्विक आनंद एवं आर्त्तता प्रकट हो उठेगी, तभी उसे शिक्षण रूपी देवी अपने दीक्षा प्रदान करेगी। तभी वह मनुष्य 'शिक्षक' बनने के योग्य होगा।

ऐसी दीक्षा वाला शिक्षक एक नया वाला इंसान है। उसकी एक ही जाति है—शिक्षक जाति। उसका एक ही देश है और वह है सम्पूर्ण विश्व। उसका एक ही लक्ष्य है और वह है लोगों का उद्धार करना। डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि ऐसे लोगों और संस्कृति के उद्धार के महान कार्य हेतु जिन लोगों ने यथामति, यथाशक्ति, यत्किंचित काम किया है, और कर रहे हैं वे ही सम्पूर्ण शिक्षित जाति के और समस्त जनता के सम्मान-पात्र हैं। प्रत्येक महान कार्य की सफलता बार-बार की असफलता से उद्भूत होती है। भले ही वे निष्फल हुए या हों, पर यह सूत्र शिक्षक कभी विस्मृत नहीं कर सकता। शिक्षक का सच्चा शिक्षकत्त्व उसकी प्रखर आशावादिता में समाया रहता है।

इस प्रकरण के अन्त में मैं डॉ. मोंटेसरी के शब्दों को ही सुशोभित करना चाहता हूं। इन शब्दों में शिक्षक की योग्यता का निष्कर्ष विद्यमान है। ये लिखती हैं : 'शिक्षक की मुखरता के

बजाय उसका मौन अधिक उपयोगी है। पढ़ाने की बजाय उसे बालकों का अवलोकन करना जरूरी है। उसे यह अभिमान नहीं पालना चाहिए कि वह कभी भूल नहीं करता, अपितु नम्रतापूर्वक अपनी त्रुटियों का पता लगाना और उन्हें स्वीकार करना उसका कर्त्तव्य है।'

□

प्रकरण सातवां

पाठ कैसे पढ़ाये जाएं !

'Let all thy words be counted'—Dante

मोंटेसरी पद्धति में पाठ पढ़ाने का अर्थ प्रचलित रूप से 'पढ़ाना' नहीं है, अपितु प्रयोग करने के अर्थ में है। मोंटेसरी पद्धति के अनुसार रचे गए स्वतंत्र वातावरण में तथा प्रबोधक साहित्य (डाइडेक्टिक एपरेटस) के सहवास-संसर्ग में बालक अपना व्यक्तित्व प्रकट करता है। इस व्यक्तित्त्व के प्रदर्शन को देखना शिक्षक का काम है, पर यह काम पहला और अंतिम नहीं है। शिक्षक को अपना कार्य-क्षेत्र धीमे-धीमे व्यापक बनाना है। अवलोकन से अगला काम है प्रयोग का। प्रयोग करने का ही दूसरा नाम है पाठ पढ़ाना। प्रयोग का उद्देश्य साक्षात् 'पढ़ाना' होने की बजाय शिक्षण-पद्धति की खोज करना है।

प्रत्येक शिक्षक अवलोकन करने का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही प्रत्येक विषय प्रयोग का अधिकारी नहीं होता। जो शिक्षक किसी मनोवैज्ञानिक द्वारा किये जाने वाले प्रयोग की पद्धति से वाकिफ है, वही शिक्षक बालकों को पढ़ाने का काम अच्छी तरह से कर सकता है इसके साथ ही शिक्षक में मोंटेसरी पद्धति के सिद्धांतों और उन्हें क्रियान्वित करने का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए उसे बालगृहों में रहते हुए इस पद्धति का यथार्थ अध्ययन किया

हुआ होना चाहिए । पूरी मोंटेसरी पद्धति में 'संयमन' सिखाने की रीति का तात्त्विक एवं गहन अध्ययन सर्वाधिक मुश्किल चीज है । इसके सफल अध्ययन पर ही शिक्षक की सफलता का वास्तविक आधार है ।

मोंटेसरी पद्धति में पाठ पढ़ाने का मतलब सर्वथा नया है। स्वतन्त्रता तथा स्वयं-स्फूर्ति का अनुसरण करते हुए बालक का वैयक्तिक विकास किये जाने की बजाय अगर हम उन्हें समूह-गत शिक्षक देना चाहेंगे, तो शुरुआत में ऐसा करना असंभव नहीं तो कठिन जरूर होगा । इस वय में बालक में सामूहिकता का भाव ही कम होता है । जैसे-जैसे बालक संयम-प्रेरक खेलों से गुजरता जाता है, और जैसे-जैसे वह अधिक से अधिक स्पष्टतापूर्वक 'अच्छे व बुरे' का फर्क समझता जाता है, वैसे-वैसे उसमें समूहगत काम करने का संयम बढ़ता जाता है । अतएव शुरुआत में व्यक्तिगत प्रयोग करने की ही जरूरत है। स्वतंत्र वातावरण में पलने वाले बालकों को एकाध स्थान पर स्थिर और शांत बिठा कर उन्हें शिक्षण के वचन सुनाना कठिन है, या फिर शिक्षक जो कुछ आदेश देता है उसे क्रियान्वित कराना कठिन और निरर्थक होने के कारण प्रायोगिक पाठों का परिमाण बहुत कम रखा जाता है। समूहगत शिक्षण तो इस वय में कत्तई अनुकूल नहीं समझा गया । अतः उस दिशा में जाना स्थगित रखना ही सही समझा गया है ।

इस प्रस्तावना के उपरान्त हम व्यक्तिगत शिक्षण देने के कतिपय नियमों को आँखों बाहर निकाल लें :

एक, व्यक्तिगत शिक्षण का प्रथम लक्षण है ऋजुता। पाठ बहुत संक्षिप्त होना चहिए । इस अध्याय के शीर्षक पर अंग्रेजी में छपी कवि दांते द्वारा लिखी गई पंक्ति का अर्थ बहुत गंभीर है : 'अपने शब्द गिन-गिन कर बोलिये।' यह सूत्र शिक्षक की जिह्वा पर

उत्कीर्ण होना चाहिए । बहुत ध्यान रखकर हमें अपनी वाणी से अनावश्यक शब्दों को चुन-चुनकर निकाल देना चाहिए तथा मात्र अत्यन्त जरूरी शब्द ही बोलने चाहिए । इससे हमारा शिक्षण-कार्य बहुत आसान हो जाएगा । बहुधा अध्यापकगण शब्दों के जाल में पाठों को फांस कर उनका दम निकाल देते हैं । शिक्षक को पहले से ही सोच लेना चाहिए कि उसे अमुक प्रयोगों में कितने शब्द बोलने हैं । याने इन शब्दों को वह माप-तौल कर ही प्रस्तुत करे । शब्दों के विलास की नहीं शब्द-सामर्थ्य को हमें जरूरत है । शब्द-विलास नितांत आडंबर और निरंकुशता है ।

दो, वैयक्तिक शिक्षण का दूसरा लक्षण है सादगी । सादगी का अर्थ है स्वाभाविकता एवं निपट सत्य । सोच-समझ कर चुने हुए शब्द अत्यन्त सहज होने चाहिए, याने वे सत्य से रहित नहीं होने चाहिए । आडंबर से रहित तथा अत्यन्त निर्मल वाणी का ही नाम है सत्य वाणी । प्रयोग कार्य में ऐसी निर्मल वाणी ही व्यवहार्य है। शिक्षक को छल प्रधान एवं शंकायुक्त वाणी से सदैव दूर रहना चाहिए । आडंबर युक्त शब्द बालकों को सच्ची पढ़ाई से परिचित होने में बाधा ही डालते हैं ।

वर्तमान शिक्षण-प्रणाली भाषण-प्रधान है। भारी-भरकम, समन्वय रहित, अर्थहीन एवं अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग करने वाले अध्यापक विद्यालय में सम्मान पाते हैं । जबकि मोंटेसरी पद्धति शिक्षक को मौन का पाठ पढ़ाती है तथा जहां वह मौन व्रत का उल्लंघन करता है वहां उसका विवेक उसे ऐसा न करने की समझ देता है : सत्य पूर्ण और दो टूक संक्षिप्त वाणी ही मोंटेसरी शिक्षण का आभूषण है। बोलने की बजाय चुप रहना मुश्किल बात है । मोंटेसरी पद्धति के शिक्षण का संयमित मौन भाषण, देने को शक्ति की विकसित करने की सबलता के बजाय कुछ अधिक बल की अपेक्षा रखता है ।

तीन, वर्तमान शिक्षण पद्धति में प्रमुख स्थान शिक्षक को दिया गया है। शिक्षक तथा शिष्य के बीच इतने प्रबल एवं प्रगाढ़ सहयोग की कल्पना की जाती रही है कि शिक्षण-विषय को उनके बीच रहने की जैसे गुंजाइश ही नहीं समझी जाती। मोंटेसरी पद्धति में शिक्षक का स्थान अलग तरह का है। वह बालक को पढ़ाएगा नहीं, अपितु स्वयं बालक अपनी जरूरत के अनुसार शिक्षण-विषय ग्रहण कर लेगा। याने यहां यह माना जाता है कि शिक्षक शिष्य से जितना परोक्ष रहेगा उतना ही श्रेष्ठ होगा। शिक्षक की यह परोक्षता ही उसके प्रयोग कराने संबंधी गुणों में से एक मुख्य गुण है। शिक्षण इस तरह किया जाना चाहिए कि बालक के सामने उसकी पाठ्य-वस्तु ही प्रत्यक्ष रहे और शिक्षक पर्दे के पीछे। जिस पदार्थ की ओर बालक का ध्यान खेंचा जाना चाहिए वह पदार्थ स्वयं बालक के समीप उपस्थित रहना चाहिए। उस पदार्थ के बीच शिक्षक को न अपना ज्ञान-वैभव लाना चाहिए, न अपनी वाचालता, या अन्य श्रृंगार स्वरूप साहित्य लाना चाहिए। दो टूक, तथापि सम्पूर्ण अर्थयुक्त शब्दों द्वारा वस्तु का परिचय तथा उपयोग बताने में ही शिक्षक का वास्तविक कौशल और सफलता निहित है।

शिक्षण कार्य करने के साथ-साथ शिक्षक को अपना अवलोकन-कार्य तो करते ही रहना है। अवलोकन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर ही उसे प्रयोग करने हैं। अलबत्ता यहां यह स्मरण कराने की जरूरत नहीं है कि अवलोकन करते समय अथवा पाठ पढ़ाये जाते समय बाल-स्वतन्त्रता का सिद्धांत व्यवहार में जारी रहना चाहिए। शिक्षक को इस बात का सूक्ष्मता से पता लगाने की जरूरत है कि बालक पाठ्य-वस्तु में आनंद लेता है या नहीं, उसे आनंद कैसे आता है और कितनी बार आता है। पाठ के बारे में

बताते समय बालक के चेहरे पर कैसे-कैसे भाव व्यक्त होते हैं, इसका भी शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए। पाठ पढ़ाते समय भी बालक की स्वतन्त्रता एक क्षण के लिए भी बाधित नहीं होनी चाहिए।

मोंटेसरी पद्धति के शिक्षक को स्वतंत्रता के सिद्धांत का पालन धार्मिक रीति से करना होगा, क्योंकि अगर एक बार अपने स्वभाव के विपरीत जाकर उसने बालक को पढ़ने हेतु विवश किया अथवा उसने एक ही बार बालक से कृत्रिम प्रयास कराने शुरू किये तो बालक की स्वयं-स्फूर्ति का तो खात्मा ही हो जाएगा और फिर शिक्षक को स्वयं-स्फूर्ति के दर्शन शायद ही मिलें।

मान लीजिए कि उक्त नियमानुसार शिक्षक अपना पाठ सरल एवं सत्यवाणी में तैयार करता है और बालक के समक्ष परोक्ष रूप में रखता है, लेकिन फिर भी बालक उसमें आनंद नहीं लेता, पाठ का अर्थ उसकी समझ में नहीं आता, पदार्थ का उपयोग व उद्देश्य उसमें जाग्रत नहीं हो पाता, तो शिक्षक को अपना पाठ वहीं का वहीं छोड़ देना चाहिए। उस समय तो पाठ के पुनरावर्त्तन को त्यागना ही उचित है। न तो उस समय कोमल से कोमल प्रयत्न करके बालक को प्रेरित करने की आवश्यकता, न उसके साथ अतिरिक्त प्रेमपूर्ण आग्रह की जरूरत। यही नहीं, हमें उसको पता ही नहीं लगने देना चाहिए कि बालक ठोठ है, उसे कुछ नहीं आता-जाता, या वह समझ नहीं पाया। उसकी गलती हमें नहीं निकालनी है। जिस क्षण बालक को अपनी भूल का पता लग जाएगा उस क्षण वह पाठ को समझने का जाग्रत प्रयास करेगा, परिणामतः उसमें स्वयं-स्फूर्ति की स्वाभाविकता नहीं रहेगी और उसके न रहने से शिक्षक का अवलोकन कार्य बंद हो जाएगा।

इसके लिए कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं।

मान लें कि शिक्षक बालक को लाल और आसमानी इन दो रंगों की जानकारी देना चाहता है। रंग की तख्ती की तरफ बालक का ध्यान खींचने के लिए शिक्षक कहेगा : 'इधर देखना।' फिर रंगों की जानकारी देते हुए कहेगा : 'यह लाल है।' शिक्षक 'लाल' शब्द का उच्चारण आहिस्ता, स्पष्ट और ऊंची आवाज में करता है। तब वह बालक को आसमानी रंग की तख्ती दिखाता है और उपर्युक्त विधि से कहता है : 'यह आसमानी है।' बालक ने उसके बताये हुए अर्थ को ग्रहण किया है या नहीं, इसका पता लगाने के लिए शिक्षक बालक से कहता है : 'मुझे लाल रंग दो', 'मुझे आसमानी रंग दो', और मान लें कि बालक लाल और आसमानी बताने में गलती करे, तो शिक्षक अपने ही काम में लगा रहता है, वह फिर से सबक नहीं देता, न ही बालक को सिखाने का आग्रह करता। वह बालक की तरफ देखकर थोड़ा मुस्कुराता है, उसे थोड़ा सहलाता है, उसे खेलाता है और शांतिपूर्वक रंगों की पेटी बंद कर देता है।

पाठ पढ़ाने की यह सीधी, सादी विधि देखकर बहुत से अध्यापक आश्चर्य के साथ कहते हैं : 'इसमें कौनसी नई बात है? इस तरह पढ़ाना तो हरेक को आता है।' पर सच बात यह है कि इतनी सादगी से पढ़ाना हर किसी को नहीं आता। अपनी वृत्ति को मर्यादित रखना और सरलता, सत्य व सादगी का अनुसरण करते हुए पढ़ाना बहुत मुश्किल काम है।

पुरानी पद्धति से प्रशिक्षित अध्यापकों की सबसे अधिक मुश्किल होती है। निरर्थक व गलत शब्दों की वर्षा करके बालकों को उसमें डुबाने की उनकी बुरी आदत पड़ी होती है। चुप रहना उनके लिए सबसे बड़ी सजा है। ऐसा शिक्षक रंगों का ज्ञान बालकों को कुछ इस तरह से देगा। वह कहेगा : 'बालको! जरा

इधर देखना! मेरे हाथ में क्या चीज है, क्या तुम बता सकते हो?' वस्तुत: उसके हाथ में कुछ होता ही नहीं, तो भला बालक जाने भी कैसे कि उसके पास क्या है। पर बालकों का ध्यान खींचने के लिए शिक्षक असत्य बोलकर अपने शिक्षण की शुरुआत करता है। वह कहता है। 'बालको! आकाश की तरफ देखो। क्या तुमने पहले भी कभी आकाश की तरफ देखा है? जब सारा आकाश तारों से चमक उठता है, उस समय भी कभी देखा है उसे? क्या सचमुच नहीं देखा? अच्छा, तब मेरे कपड़ों की तरफ देखो। इनका रंग कैसा है, क्या तुम्हें पता है? क्या तुमको मेरे कपड़ों का रंग और आकाश का रंग एक-सा नहीं लगता? अच्छी बात है। अब जरा मेरे हाथ में जो रंग है उसे देखो। इसका रंग आकाश जैसा है, और मेरे कपड़े भी इसी रंग के हैं। इन तीनों का रंग एक जैसा है, क्यों, सही कहा ना! इसको आसमानी रंग कहा जाता है। अब तुम अपने इस कमरे में चारों तरफ नजर घुमाओ और बताओ कि आसमानी रंग कहां-कहां है! कच्चे बेर का रंग कैसा होता है...आदि...यह तो तुम जानते ही हो?' इस तरह पाठ आगे बढ़ता है। इतनी देर में बालक के मस्तिष्क में कई बातें समा जाती हैं और आकाश, कपड़े, बेर आदि शब्दों के गुच्छे से गुच्छे टेढ़े-मेढ़े घूमने लगते है। इतने लंबे शब्द-जंजाल के द्वारा शिक्षक जिन दो शब्दों का ज्ञान देना चाहता था, उन दो शब्दों को ढूंढने में बालक सर्वथा असमर्थ रहता है। ये शब्द हैं—लाल और आसमानी।

यहां पाठ का प्रयोजन निष्फल जाता है और शिक्षक की मेहनत उसके माथे पड़ती है। लंबी बातों और बहुत सारे शब्द-समूह को बालक नन्हीं उम्र में ग्रहण नहीं कर पाता। अतएव शिक्षण की यह विधि त्रुटिपूर्ण है।

डॉ. मोंटेसरी एक बार एक शाला में हाजिर थीं। गणित की

कक्षा चल रही थी। शिक्षक बालकों को यह ज्ञान दे रहा था कि दो और तीन मिलकर पांच होते हैं। इसके लिए शिक्षक ने एक उपकरण तैयार कर रखा था। उसने पतले तारों का एक फ्रेम बनाया था। तारों में रंग-बिरंगे मोती पिरोये थे। सबसे ऊपर के तार में दो मोती थे, उससे नीचे वाले तार में तीन मोती थे और सबसे नीचे वाले तार में पांच मोती थे। अब पढ़ाने का काम यूं शुरू हुआ। शिक्षक ने दो मोती वाले तार में कागज की आसमानी रंग की एक गुड़िया पिरो दी थी, जो नाचती थी और उसका नाम कक्षा की एक बालिका के नाम पर रख दिया था। बीच वाले तार पर में भी कागज की दूसरे रंग की गुड़िया पिरो दी थी और उसका भी कोई नाम रख दिया था। इसके बाद पाठ कैसे पढ़ाया गया और 3+2=5 कैसे सिखाया गया, इसका अर्थ डॉ. मोंटेसरी को समझ में कुछ नहीं आया। वे कहती हैं कि पढ़ाने का कुछ काम तो कक्षा में चला था, पर इतना सही है कि शिक्षक ने उस गुड़िया का नाम पुकारते हुए और उसे नचाते हुए बहुत सारी बातें कहीं थी। गणित का पाठ कैसे पढ़ाया गया, इससे कहीं अच्छी तरह मुझे वह कागज की बनी गुड़िया अधिक याद है। जब मुझे भी सिर्फ यही याद रहा, तो बच्चों की तो बात ही क्या है! अगर कहीं इतनी लम्बी और उकताऊ विधि से बच्चे 3+2=5 सीख गए होंगे तो उनके दिमाग पर बहुत अधिक बोझ जरूर पड़ा होगा और शिक्षक को भी उस नाचने वाली गुड़िया से बहुत-सी बातें करनी पड़ी होंगी।

एक और उदाहरण। एक अध्यापक छोटे बच्चों को आवाज और ध्वनि का फर्क समझा रहा था। उसने बच्चों को एक लम्बी कहानी सुनानी शुरू की। तभी एक आदमी जोर-जोर से दरवाजा खटखटाने लगा। वस्तुत: उसे पहले से ही दरवाजे पर खट-खट

की आवाज करने के लिए कहा हुआ था। खट-खट की आवाज सुनते ही अध्यापक ने कहानी कहना बंद कर दिया और जोर से पूछने लगा : 'यह क्या है? क्या हुआ? क्या तुम जानते हो कि बाहर खड़ा आदमी दरवाजे पर क्या कर रहा है? मैं अब तुमको कहानी कैसे कहूं भला! कहानी तो मैं भूल ही गया। कहानी तो अब अधूरी ही रहेगी। लेकिन यह सब क्या हुआ था, क्या तुम जानते हो? तुमने कुछ सुना था? क्या समझ पाये तुम? दरवाजे पर जो खटखट हो रही थी, उसे आवाज कहा जाता है। इसी का नाम आवाज है, समझे? पर आओ, अब हम इस छोटे-से बच्चे के साथ खेलेंगे। (कपड़े में छिपाये हुए मैंडोलीन को उठाते हुए) मैंने मेरे हाथ में जिस बच्चे को उठा रखा है, उसे तुम देख रहे हो ना!' कुछ बच्चे बोलते हैं : 'अरे, यह कोई बच्चा थोड़े ही है।' दूसरे कहने लगे : 'अरे, यह तो मैंडोलीन है।' लेकिन अध्यापक कहता है : 'नहीं रे नहीं।' यह तो नन्हा बालक है, सचमुच बालक ही। मुझे यह बच्चा बहुत प्यारा लगता है। मैं तुमको बालक दिखाऊं? जरा पीछे हटो। एकदम शांत हो जाओ। शांत, शांत। लगता है बालक अभी रो पड़ेगा। नहीं-नहीं, अभी यह हमसे बातें करेगा। सुनो अभी यह बा, बा, बोलेगा।' अध्यापक अपने कपड़ों में छिपाये मैंडोलीन को छूता है। उसके तारों को छेड़ता है और कहता है : 'सुना,सुना! तुमने बालक को रोते सुना? क्यों, सुनाई दिया या नहीं? यह तुम्हें बुला रहा है।' बालक बोलने लगे : 'नहीं, नहीं, यह तो मैंडोलीन है। आपने इससे तारों को छुआ और इसे बजाया। हम जान गये।' अध्यापक : 'शान्त रहो, शान्त रहो। देखो जरा, मैं क्या करता हूं? एक देखने लायक चीज निकलेगी।' तब शिक्षक मैंडोलीन पर ढका कपड़ा हटाता है। उसे बजाने लगता है और कहता है : 'सुनो, इसमें से ध्वनि निकलती है। इसी का नाम ध्वनि है।'

इस प्रकार दिये गए पाठ से बालक आवाज और ध्वनि के बीच का अन्तर समझ जाएंगे, यह मान लेना केवल हास्यास्पद है। बालक अपने मन ही मन सोचेगें कि या तो यह शिक्षक मूर्ख है, या फिर हमको मूर्ख बना रहा है, क्यों कि जरा-सी खटखट होते ही भला कोई कहानी भूल सकता है ? और मैंडोलीन भी क्या कोई बालक होता है ?

यहां बालक को ध्वनि और आवाज का ज्ञान मिलने बजाय की शिक्षक के संबंध में अमूल्य जानकारी मिलेगी। उसे ध्वनि और आवाज का अन्तर याद रहने की बजाय शिक्षक अधिक याद रहेगा।

पुरानी पद्धति में विकसित हुए शिक्षक से सादा-सा पाठ दिलाना भी बहुत मुश्किल है। इस संबंध में डॉ. मोंटेसरी का अपना अनुभव हमारे लिए जानने-समझने योग्य है। बालक को भौमितिक आकृतियों के माध्यम से त्रिकोण और चतुर्भुज के बीच का फर्क कैसे सिखाया जाए—इसका ज्ञान एक अध्यापिका को भली-भांति देने के पश्चात् डॉ. मोंटेसरी ने उससे कहा कि अब वह इसी ज्ञान के आधार पर बालक को सिखाये। काम आसान था, कोई कठिन बात नहीं थी। शिक्षिका को सिर्फ इतना करना था कि त्रिकोण को त्रिकोण के खाने में रखना था और चतुर्भुज को चतुर्भुज के खाने में। इसके बाद उसे एक के बाद एक पहले त्रिकोण और चतुर्भुज के किनारों पर और तदुपरांत उनके खाली खानों के किनारों पर बालक की अंगुली फिरा कर उसे बताना था कि वह अंगुलियां कैसे फिराये; साथ ही साथ मुंह से 'यह त्रिकोण' है और 'यह चतुर्भुज है' कहते हुए त्रिकोण और चतुर्भुजकी पहचान करानी थी, लेकिन अध्यापिका ने बालक की उंगली चतुर्भुज से छू कर यों कहा : 'यह एक भुजा है, यह दूसरी भुजा है, यह तीसरी है और

यह चौथी भुजा है। इसके चार भुजायें होती हैं। अपनी उंगली से इन्हें छू कर मुझे बताओ तो सही, कि ये कितनी हैं ? कितने इसके कोण हैं ? अपनी उंगली से छूओ और गिनो। ध्यान रखना—चार भुजाएं और चार कोण हैं। इस टुकड़े को जरा गौर से देखो, यह समचोरस।'

मोंटेसरी ने अध्यापिका की त्रुटि की तरफ ध्यान खींचते हुए कहा : 'इस तरीके से हमें बालक को आकार का ज्ञान नहीं देना। इस तरह से तो हम उसे भुजाओं, कोणों तथा संख्याओं का ही ज्ञान देते हैं। इस पाठ के द्वारा हमें जो सिखाना है, उससे वह कुछ भिन्न बात है।' अध्यापिका ने अपने पक्ष में कहा : 'ये दोनों बातें एक ही हैं।' वस्तुतः ये एक चीज नहीं है। इसमें तो भूमिति की गणित अथवा पृथक्कृति है। किसी भी ज्योमितिक आकृति का ज्ञान उसकी भुजाओं एवं कोणों की संख्या को जाने बिना मिल सकता है। वस्तुतः भुजाएं व कोण तात्त्विक चीजें हैं। अपने आप में इनका अस्तित्व नहीं है। वास्तविक अस्तित्व तो चोरस टुकड़े का है। शिक्षिका जिस रीति से वस्तु का परिचय करा रही थी, उससे तो उल्टे बालक के मन में भ्रांति पैदा हो रही थी। यही नहीं, स्थूल व सूक्ष्म में अथवा वस्तु के स्वरूप और उनकी तात्त्विक गणित में जो अन्तर है वह तो बालक के ध्यान से दूर ही रहेगा।

डॉ. मोंटेसरी ने अध्यापिका से कहा : 'मान लो कि कोई शिल्पी आपको एक गुम्बद दिखाने है, जिसकी आकृति आपको बहुत पसंद है। गुम्बड दिखाने में वह दो पद्धतियां काम में ला सकता है : एक तो यह कि शिल्पी गुंबद की सुन्दरता, बनावट और समानुपात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करे और आपको अंदर ले जाकर गुंबद दिखाये। बेशक उस समय वह अन्दर-बाहर के हिस्सों के पारस्परिक संबंध की ओर आपका ध्यान खीचे। दूसरी

यह विधि हो सकती है कि गुंबद में आने वाली खिड़कियां गिनाये, चौड़े व संकरे कोने बताये तथा गुंबद की रचना कैसे की गई है, उसकी डिजाइन कागज पर बना कर बताये और यह बताये कि गुम्बद कैसे चिना गया।

'बेशक, पहली विधि से बताया होगा तो गुम्बद की सुंदरता, उसके आकार आदि के अवलोकन में आपको मजा आया होगा और वह आपकी याददाश्त में स्थायी बन गया होगा। पर अगर उसने तुम्हें दूसरी विधि से गुम्बद दिखाया होगा, तो तुम गुम्बद देखे बिना ही उकताकर वापिस आये होंगे और अपने मन ही मन बड़बड़ाये होंगे कि भला वह शिल्पी गुम्बद के सौंदर्य की लालसा से अवलोकनार्थ आने वाले किसी आगंतुक को सादी सरल विधि से समझा रहा था, या किसी कुशल इंजीनियर के साथ गुम्बद के बारे में गम्भीर चर्चा-परिचर्चा कर रहा था। तुम मन ही मन खीज कर कह उठोगे कि भले ही यह शिल्पी दक्ष होगा पर इसको यह अता-पता नहीं, कि क्या बताना चाहिए और क्या नहीं बताना चाहिए।'

अगर हम भी 'यह चोरस है' कहने के बजाय उस चोकोर वस्तु की भुजाएं उंगुली से छू कर उसे उस चोकोर की समग्र आकृति बताये बगैर उस चोकोर की भुजाओं का ज्यॉमितिक वर्गीकरण करते तो हम भी उस शिल्पी की तरह द्वितीय विधि को ही अपनाते (कुशल शिल्पी के साथ गम्भीर बातें करते)।

किसी चोकोर खिड़की या टेबिल को देखने में बालक को कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। अपने आसपास विद्यमान आकारों की दुनिया को वह रोजाना देखता है। उसके दिमाग में इन तमाम आकारों की धुंधली छाप तो अंकित ही रहती है। प्रथम विधि के अनुसार आकारों की तरफ बालक का ध्यान खींचने से यह लाभ है कि उसके दिमाग में जो अस्पष्ट छवि अंकित है वह

स्पष्ट होती है। आकारों के बारे में उसकी कल्पना विलक्षण बनती है, उनसे संबंधित उसके खयाल स्पष्ट बनते हैं, परिणाम स्वरूप वह आकारों को अधिक अच्छी तरह समझ सकता है और उसका आनंद ले सकता है। मान लें कि हम किसी सरोवर के एक किनारे को सुधबुध भूल कर एकटक देख रहे हैं और उस सुन्दर दृश्य का आनंद लूट रहे हैं, पर वस्तुतः हमें इस बात का भली-भांति ज्ञान नहीं कि कौनसा दृश्य कैसे हमें अधिक आनंद दे सकता है, कि तभी कोई कलाकार आकर हमसे कहता है : 'जरा देखिए तो सही, उस छोटी-सी पहाड़ी के पास वाला सरोवर का किनारा कैसा सुन्दर मोड़ ले रहा है, उसका दृश्य कितना सुन्दर दिखाई दे रहा है!' ये शब्द सुनते ही हम जिस दृश्य को अस्पष्ट देख रहे थे, वह दृश्य मानो सूर्य किरणों के अचीन्हे प्रकाश में जगमगा उठा हो, हमें ऐसा आभास होने लगता है। उसी क्षण से उस दृश्य में विद्यमान सुन्दरता को हम पूरी तरह से समझ जाते हैं। इस सुन्दर दृश्य के दर्शन से हमारे मन में जो एक तरह की अपूर्ण और धुंधली भावना थी, वह अब पूर्ण और स्पष्ट हो गई और हमारा आनंद अनंत-गुणा बढ़ गया। सच मानिये, बालकों के प्रति हमारा दायित्व भी कुछ इसी तरह का है।

जैसे कोई अकेला आदमी निर्जन, शांत व सुन्दर वन में चला जा रहा हो, विचारों में मग्न हो तथा अंतरात्मा के अतल में उतर गया हो। ऐसे में एकाएक किसी मंदिर से घंटे की ध्वनि उसके कानों से टकराती हो और आसपास की शांति एवं सुन्दरता की तरफ, जिसे वह अस्पष्ट रूप से हर पल अनुभव कर रहा था और आनंदित हो रहा था, उसका मन आकृष्ट हो उठे और परिणामतः शांति एवं भव्यता का तीव्र प्रभाव उसके हृदय को आंदोलित करके उसे नया जीवन प्रदान करे– ठीक ऐसी ही बात उपर्युक्त उदाहरण में घटित

होती है। यहां डॉ. मोंटेसरी द्वारा कहे गए ये शब्द ही अधिक उपयोगी सिद्ध होते है।

'जीवन को विकसित करने के लिए– अंकुरित करने के लिए मुक्ति देकर उसे मात्र प्रेरणा देने का कर्त्तव्य शिक्षाविदों का है। यह नाजुक काम अत्यन्त कौशल पूर्वक होना चाहिए। शिक्षक की सहायता मर्यादित हो रहनी चाहिए ताकि जो आत्मा जीवस की सम्पूर्णता की ओर बढ़ रही है उसे वांछित गति मिल सके। ऐसी सहायता न तो विकास को अव्यवस्थित करती है, न उसे मार्ग-भ्रष्ट करती है। यह कौशल वैज्ञानिक कार्य-पद्धति से रहित नहीं होना चाहिए।'

जब इस तरह शिक्षक प्रत्येक बालक की आत्मा को अपनी आत्मा से छुएगा तथा स्वयं एक अदृश्य ताकत बन कर बालक में चेतना तथा जाग्रति पैदा करेगा, तभी शिक्षक प्रत्येक बाल-आत्मा का गुरु बनेगा और फिर उसकी आज्ञा, उसका शब्द या मात्र संकेत ही बालक को चाहे जैसे नचाने लगेगा। ऐसा शिक्षक प्रत्येक बालक को अपने प्राणों जैसा ही प्राणवान लगेगा जिस तरह बालक अपने प्राणों को पहचानता है और उनकी आज्ञा सुनता है वैसे ही वह गुरु के प्राणों को पहचानेगा और उनके आदेशों का पालन करेगा। संकेत मात्र से प्रेम व नम्रतापूर्वक बालक को आदेश पालन में तत्पर व आग्रही देख कर शिक्षक को भी आश्चर्य होगा। उधर बालक यह मानेंगे कि यही हमारा जीवनदाता है अतः नया जीवन प्राप्त करने के लिए इसी के पास जाना चाहिए। नये प्राण देने वाला यही है।

अनुभव ने यह सब सिद्ध कर दिखाया है। इसी कारण बालगृहों में आने वाले महानुभाव अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर स्नेहाश्रु बहाते हुए वापिस लौट जाते हैं। समूह-व्यवस्था जैसे जादू की तरह पैदा हो गई है, ऐसा उन्हें महसूस होता है। ध्यान के

समय दो से सात वर्ष की उम्र के पचास से साठ विद्यार्थी– बालक इतनी अधिक, सुन्दर शांति बनाये रखते हैं मानो उस स्थान पर शांति का साम्राज्य कायम हो, जैसे वहां कोई नहीं। ऐसे में जब धीमे स्वर में शिक्षक बालकों से कहे कि 'खड़े हो जाओ, अपने पंजों के बल कमरे में चक्कर लगाओ और शांति से अपनी जगह वापिस आ बैठो' तो बच्चे कम ने कम आवाज करते हुए शिक्षक का हुकम उठाते हैं। शिक्षक अपने धीर-गंभीर-मधुर स्वर से सभी बालकों का हृदय एक साथ छूता है और प्रत्येक बालक अपने शिक्षक से कुछ प्रकाश, कुछ आनंद अनुभव करने की आशा रखता है। इस वृत्ति से प्रेरित बालक अपने शिक्षक की आवाज सुनते ही किसी का आतुर शोधकर्त्ता की भांति काम करना शुरू कर देना है तथा शिक्षक के आदेश का अनुसरण कर बताता है। सच पूछें तो हमें बाल-मन का अता-पता ही नहीं है। इस विषय में ज्ञान की बजाय हमें अज्ञान अधिक है। इस संबंध में हमारे वहम, शंकाएं और आशंकाएं बहुत अधिक हैं। बालक में भी हमारे जैसी ही मानवीय आत्मा है, इस भावना से हमने कभी उसके साथ व्यवहार नहीं किया। उसके आभ्यंतरिक विकास का स्पर्श करने तथा उसकी सहायता करने के बजाय अब तक हमने बालक को बल से या बाहरी अनुशासन लाद कर ही नियंत्रित रखने की इच्छा की है। इसी का नतीजा हम भोग रहे हैं। बच्चे हमारे साथ हमारे बीच ही रहते हैं, फिर भी हम उन्हें पहचान नहीं पाते और वे हमारे सामने अपनी आत्मा को प्रकट करने में असमर्थ हो गए हैं। लेकिन जिस कृत्रिमता से हमने उनको घेर लिया है, जिस जुल्म और सख्ती के माध्यम से हम उनमें अनुशासन लाने की कोशिश कर रहे हैं, उस कृत्रिमता और सख्ती को हम दूर हटा देंगे—समाप्त कर देंगे, तभी हमारे बच्चे अपना वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए हमारे सामने आ

सकेंगे। तभी हम उनकी भलाई का युक्ति संगत मार्ग तलाश कर सकेंगे। हम और बालक एक-दूसरे के बहुत समीप आएं, इसी में हमारा, बालकों का तथा पूरे विश्व का कल्याण समाहित है। इस बात को शिक्षक जल्दी से जल्दी समझ सकें, यही कामना है। □

प्रकरण आठवां

इन्द्रियों का शिक्षण : मीमांसा

हम जानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं। शब्द का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय है कान, स्पर्श का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय है त्वचा, रस का ज्ञान देने वाली इन्द्रिय है रसना, रूप का ज्ञान कराने वाली है आंख, और गंध का ज्ञान देने वाली है नासिका।

मोंटेसरी पद्धति में समग्रतया नौ इन्द्रियों का उल्लेख है :

1. दर्शन की इन्द्रिय —Visual Sense
2. रंग की इन्द्रिय —Chromatic Sense
3. स्पर्श की इन्द्रिय —Tactile Sense
4. शीतोष्ण की इन्द्रिय —Thermic Sense
5. वजन की इन्द्रिय —Baric Sense
6. आंख की मदद के बिना रूप को जानने वाली इन्द्रिय —Stereognostic Sense
7. गंध की इन्द्रिय —Olfactory Sense
8. शब्द की इन्द्रिय —Auditory Sense
9. स्वाद की इन्द्रिय —Sense of Taste

दर्शन की इन्द्रिय का स्थान आंख में हैं। इसके द्वारा हमें समस्त दृश्यमान पदार्थों का ज्ञान होता है। रंग की इन्द्रिय का स्थान भी आंख में है। इसके द्वारा हमें रंग तथा छाया-रंगों का भान होता है।

जिन-जिन के पास आंखें हैं उन्हें दर्शन-जन्य ज्ञान संभव है, लेकिन जिनके पास आंखें नहीं हैं, उन्हें रंग का ज्ञान संभव ही है, ऐसी बात नहीं है। बहुत से लोग हैं ऐसे कि जो अन्य वस्तुएं देख सकते हैं, पर वे बहुत-से रंगों की पहचान नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को रंग-दृष्टिहीन (कलर ब्लाइंड) कहा जाता है। आंखों में रहने वाली रंग देखने व परखने की जो इन्द्रिय है, उसके न होने से अथवा उसमें कोई दोष होने से व्यक्ति रंग-अंध बन जाता है। रंग को परखने की शक्ति तथा दर्शन की शक्ति विशेष रूप से भिन्न होने के कारण दर्शन की इन्द्रिय से रंग की इन्द्रिय अलग गिनी जाती है। जबकि दोनों इन्द्रिय का स्थान एक ही है, याने चक्षु। समझने के लिहाज से यों कहा जा सकता है कि रंग-इन्द्रिय अथवा वर्णेन्द्रिय दृश्येन्द्रिय की उप-इन्द्रिय है।

स्पर्श की इन्द्रियों का स्थान हमारी उंगलियों के सिरों में हैं। व्यापक अर्थ में तो स्पर्शेन्द्रिय का स्थान हमारे पूरे शरीर पर ढकी त्वचा में है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से अथवा शास्त्रीय परिभाषा में स्पर्शेन्द्रिय का स्थान विशेष रूप से हमारी उंगलियों के सिरों में है। स्पर्शेन्द्रिय का कर्त्तव्य है हमारे सम्पर्क में आने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की (चिकनी खुरदरी आदि) सतहों का अन्तर समझना। यह अन्तर उंगलियों के सिरों से जितना सही ढंग से जाना जा सकता है, उतना शरीर के अन्य भागों की त्वचा से नहीं जाना जा सकता। भिन्न-भिन्न पदार्थों के सतहों की बनावट (टेक्सचर) जाने की क्षमता जिसमें है उसे स्पर्शेन्द्रिय कहा जाता है। यह क्षमता उंगलियों के सिरों में रहती है इसी से इसे स्पर्शेन्द्रिय का विशेष नाम दिया गया है। मोंटेसरी पद्धति में हमें स्पर्शेन्द्रिय को इतने ही मर्यादित अर्थ में जानना है।

शीतोष्ण इन्द्रिय का स्थान पूरे शरीर पर ढंकी त्वचा में है।

पदार्थ की गरमी या ठंडक को हम चमड़ी के द्वारा जानते हैं। शीतोष्ण इन्द्रिय का समावेश स्पर्शेन्द्रिय में नहीं हो सकता क्योंकि शीतोष्ण इन्द्रिय का स्थान स्पर्शेन्द्रिय की तुलना में अधिक व्यापक है। यहां स्पर्शेन्द्रिय का अर्थ जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैसा संकुचित है। स्पर्शेन्द्रिय याने Tactile Sense, Sense of Touch नहीं।

वजन की इन्द्रिय का स्थान उंगलियों के पोरों में होता है। शरीर के अन्य किसी भी अवयव से वजन का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। शरीर के अलग-अलग अवयवों पर वजन रखने पर शरीर के उन-उन भागों को बोझ लगता है, पर उन-उन भागों में वजन कूंतने की क्षमता नहीं है। वजन की तुलना कर पाने की क्षमता तो उंगलियों के पोरों में रहने वाली इन्द्रिय में ही है। इसीलिए वजन की इन्द्रिय को अलग गिना गया है।

आंख की मदद के बिना रूप को जानने वाली इन्द्रिय का स्थान हमारी उंगलियों के स्नायुओं एवं त्वचा में है। जिन-जिन वस्तुओं को हम आंखों से पहचानते हैं उनमें से बहुत सारी वस्तुओं को हम आंखें बंद करके, उन्हें हाथ में लेकर याने उन पर हाथ फेर कर पहचान सकते हैं। यह पहचान स्पर्शेन्द्रिय से नहीं की जा सकती, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा हमें सिर्फ सतह का ही ज्ञान होता है, जबकि प्रत्येक पदार्थ अलग-अलग तरह की सतहों वाला या आकार-प्रकार वाला होता है। सतह और आकार दो अलग-अलग चीजें हैं। इसी प्रकार रूप की परख का काम स्पर्शेन्द्रिय का नहीं है। और फिर यह पहचान शीतोष्ण इन्द्रिय के द्वारा संभव नहीं। कारण यह है कि शीतलता तथा उष्णता के गुण पदार्थों में विद्यमान रहते हैं, तथापि ये गुण रूप से भिन्न है। जिस तरह शीतल या उष्ण वस्तु के रूप को आंखों से देखने पर हमें उसकी शीतलता या उष्णता का

पता नहीं लग पाता, उसी तरह शीतोष्ण इन्द्रिय के द्वारा हमें शीतल या उष्ण वस्तु के रूप का पता नहीं लग सकता। आंखों की सहायता के बगैर रूप को जानने की एक अलग इन्द्रिय है, जिसे 'स्टीरियोग्नोस्टिक सेंस' कहा जाता है। इसका स्थान हमारी उंगलियों और स्नायुओं में होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। हम आंखें बंद करके सिर्फ हाथ फिरा कर वस्तु को पहचान लेते हैं, इसका कारण इसी इन्द्रिय का अस्तित्व है।

सतही तौर पर हमें अब तक यही लगता रहा है कि स्पर्श की, शीतोष्ण की, वजन की तथा आंख की सहायता के बिना रूप जानने की शक्ति हमारी त्वचा में रहती है। यह मान्यता सही नहीं है। यह बात अब हमारी समझ में आने लगी है।

गंध की इन्द्रिय का स्थान नासिका है। स्वादेन्द्रिय का स्थान जिह्वा और तालव्य है। सामान्य समझ ऐसी है कि स्वाद का आधार जीभ और तालवे के अस्तित्व तथा इसकी जीवंतता पर है।

मोंटेसरी पद्धति में इन नवों इन्द्रियों के विकास की योजना की जाती है। इन नवों इन्द्रियों के वास्तविक विकास के काम को मोंटेसरी पद्धति में इन्द्रिय-शिक्षण कहा जाता है।

मोंटेसरी पद्धति में इन्द्रिय शिक्षण को बहुत महत्त्व दिया गया है, यह समझ लीजिए कि वहां इसका प्रमुख स्थान है। 'मोंटेसरी मैथड' नामक डॉ.मोंटेसरी की पुस्तक का लगभग चौथाई भाग इसी एक विषय की मीमांसा से भरा हुआ है। इस पद्धति में इन्द्रिय शिक्षण को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देने का कारण देती हुए डॉ. मोंटेसरी लिखती है कि शिक्षाशास्त्र की मीमांसा करने वाली किसी भी प्रायोगिक पद्धति में बेशक इन्द्रिय शिक्षण को अति महत्त्व का स्थान मिलना ही चाहिए।

मोंटेसरी पद्धति का सम्पूर्ण झुकाव इन्द्रियों के परिपूर्ण विकास पर निर्भर है, क्योंकि इन्द्रियां ज्ञान के द्वार हैं अथवा यों समझ लें कि महल के झरोखे हैं जिनसे बाह्य जगत का ज्ञान अंदर जाता है और अंदर विद्यमान रहने वाली शक्तियां बाहर आती हैं। अनेक विद्वानों ने इन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति का औजार (टूल्स) बताया है। इनकी मान्यता है व्यक्ति ज्ञान की खदानों से इन औजारों के द्वारा ज्ञान-रत्न खोद कर निकाल सकते हैं, लेकिन जब तक ज्ञान-प्राप्ति के ये औजार मजबूत, तेज, पैने, त्वरित और अपने आप में पूर्ण नहीं होंगे तब तक ज्ञान प्राप्ति की क्रिया में निरंतर खामी रहेगी ही रहेगी। ये हथियार पूरी तरह से धारदार, कसे हुए और सुधारे हुए होने चाहिए। शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से इन साधनों को पूर्ण बनाने का काम शिक्षाविदों का है। इसीलिए मोंटेसरी पद्धति के जिन साधनों को प्रबोधक-साहित्य (डाइडेक्टिक एपरेटस) कहा जाता है, उन्हें इन्द्रियों के शिक्षण को सफल एवं सक्षम बनाने के लिए ही व्यवहार में लाया जाता है।

अभी तक की शिक्षण-प्रणाली मात्र शाब्दिक ज्ञान देने की ही रही है। डॉ. मोंटेसरी ने लिखा है कि अब तक हमने बुद्धि को लक्ष्य में रख कर ही शिक्षण कार्य किया है। पहले हमने भाषण विधि से वस्तु की जानकारी दी है और तब वस्तु का परिचय दिया है। यह क्रम साफ तौर से उल्टा है। जब हम किसी विषय या वस्तु का शिक्षण देते हैं तब हम शिक्षार्थी के सामने इस वस्तु या विषय की बहुत सारी बातें करते हैं, उसके संबंध में अपने विचार प्रकट करते हैं और यह मान लेते हैं कि बातें बताने से बालकों को उस वस्तु या विषय का ज्ञान प्राप्त हो गया। लेकिन जब विद्यार्थी से उस वस्तु या विषय के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं या उनके बारे में प्रयोग करने को कहा जाता है, हालांकि वस्तु के बारे में बालक थोड़ा-बहुत जान-

कारी रखता है, तथापि वह पशोपेश में पड़ जाता है, और उसका प्रयोग निष्फल चला जाता है। इसका कारण है वर्तमान बौद्धिक शिक्षा। बौद्धिक शिक्षण की असफलता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आज मनुष्य जो पढ़ने-समझने का दावा करता है, वह गलत है। वह समझने में सक्षम नहीं है। जो सौंदर्य वह अपनी आंखों से देखता है और जिसके आस्वादन का वह गर्व करता है, वह गलत है। वस्तुत: वह आस्वादन में सक्षम नहीं है। जो आदमी संगीत में अभि-रुचि प्रदर्शित करता है और संगीत-सभा में एक समझदार श्रोता बन कर बैठता है, वह एक ढोंग है। वस्तुत: वह कुछ भी नहीं समझता। यह बात अब छिपी नहीं रहेगी। इन्द्रिय-विकास से रहित, बौद्धिक विकास से सम्पन्न कोई गणितज्ञ, जो मापने की विद्या का अच्छा ज्ञाता है, वह दो घरों के बीच की दूरी का अनुमान तक नहीं लगा सकता। भौतिकशास्त्र का प्रोफेसर सहज ही सामान्य वजन का अंदाज नहीं लगाता सकता। मात्र बौद्धिक ज्ञान पाने वाले छात्रों का ज्ञान, भले ही उन्हें विश्व का भौगोलिक ज्ञान कंठाग्र हो, पर पर्वत या सागर न देखने से वह ज्ञान निरर्थक रहता है। इसी तरह गणित में भाग लगाने संबंधी हिसाबों में कोष्ठकों का सहजता से फर्राटे के साथ उपयोग करने वाला विद्यार्थी कई बार पौंड, शिलिंग, पैंस या तोला माशा, रत्ती के बारे में नहीं जानता। इन्द्रिय-विकास-विहीन, मात्र बुद्धि-बल-सम्पन्न विद्वान आज स्वतंत्र लेखन में प्रवृत्त नहीं होते। ये बनते हैं आलोचक-समालोचक, और वह भी कैसे! —लिखा और ले भागे! इस प्रवृत्ति के पीछे यही कारण विद्यमान है। साहित्य, संगीत, कला या अन्य कार्यों में आज नया सृजन करने वाले लोग बहुत कम हैं, इसका कारण यही है कि वर्तमान शिक्षा मात्र बौद्धिक बनकर रह गई है।

इंद्रिय-शिक्षण की बुनियाद के बिना चाहे कैसा ही बुद्धि बल

क्यों न हो, अंतत: वह पंगु ही रहेगा। मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान और विद्वान बन जाए, पर इन्द्रिय-शिक्षण की कमी रह जाने से उसमें जो अधूरापन रह जाता है, उसकी कमी को किसी और तरीके से पूरा नहीं किया जा सकता। कोई व्यक्ति अपने धंधे के बारे में चाहे जैसा तात्त्विक या व्यावहारिक ज्ञान क्यों न रखता हो, लेकिन अगर उसकी इन्द्रियों का शिक्षण सही समय पर नहीं हुआ है, तो मात्र इसी कारण से उसमें सम्पूर्णता और प्रामाणिकता नहीं आ सकती। वैद्यक-विद्या में उत्तीर्ण अनेक लोग देखने को मिल जाएंगे, पर उनमें से बहुत कम लोगों को ही सच्चा वैद्य कहा जा सकेगा। बहुत कम वैद्य या डॉक्टर ऐसे हैं जो नाड़ी की परीक्षा करके बुखार के बारे में सही निर्णय ले सकें। थर्मामीटर के बिना वे एक कदम भी आगे नहीं चल सकते। कई युवकों को डॉक्टरी की पढ़ाई में उत्तम श्रेणी मिल जाने के बावजूद वास्तविक अनुभव अर्जित करने के लिए कई वर्ष बिताने पड़ते हैं। कई बार तो फकत स्टेथेस्कोप को सही ढंग में काम में लाने की विधि सीखने में काफी समय गंवाना पड़ता है। ऐसे डॉक्टरों ने अपनी पुस्तकों में हृदय की धड़कनों के विषय में भले ही बहुत अध्ययन किया हो, भले ही उन्हें धड़कन संबंधी तथ्य मुंह जबानी याद हों, पर हृदय की धड़कनों को सुनने के लिए अपने कानों की लंबे समय तक शिक्षा करनी पड़ती है। हम लोग अनुभवी वैद्य को ही सम्मान देते हैं, नए को सिखाऊ कह कर वह सम्मान नहीं देते। कहा भी जाता है कि वैद्यक-विद्या का प्रमुख आधार इन्द्रिय विकास होता है और उक्त किस्म के पुस्तकीय-वैद्यों का इन्द्रिय-विकास शून्य के बराबर होता है। वैद्यजी की पाठशालाओं में इन्द्रिय विकास कराने की बजाय मात्र ग्रंथों का अध्ययन कराया जाता है। भले ही इसे उचित समझा जाए, पर डॉक्टरों को जो श्रेष्ठ व उत्तम कोटि की बौद्धिक शिक्षा मात्र पुस्तकों के द्वारा मिलती है वह इन्द्रिय-विकास की कमी की वजह

से अनुपयोगी ही रहती है। आज घी-दूध तथा खाने-पीने की वस्तुओं में जो मिलावट हो रही है, उसके मूल में रहने वाली वृत्ति को हम समझ नहीं पर रहे। इसका कारण हमारी इन्द्रिय विकास की कमी ही है। आज तो हमें विक्रेता की ईमानदारी पर ही निर्भर रहना पड़ रहा है। एक तरह से उसकी धोखा-धड़ी को हम ही बढ़ा रहे हैं। हम घी चख कर नहीं खरीदते, तेल को सूंघ कर उसकी सही जांच नहीं कर सकते, उनके गुड़ या अनाज में किरकिर है या नहीं इसका खयाल ही हमें खाना खाते समय नहीं आता। न हम अनुमान से वजन कूंत सकते, न लंबाई-चौड़ाई का पता लगा सकते, बहुधा हमारे नाक को गंध भी नहीं आती कि हमारा भोजन बासी हो गया है। इन सबका कारण है हमारी इन्द्रियों का न्यून या अपूर्ण विकास।

फिर भी हम बाजार में अक्सर देखते हैं कि पंसारी एक पाई से लेकर रुपए तक का माल छबड़ी में अनुमान से ही भरते हैं, और उनका अंदाज सही जाता है। घी और तेल के व्यापारी अन्दाज से ही घी-तेल डाल देते हैं और उनके अंदाज में फरक नहीं पड़ता। घर में स्त्रियों की अनुमान क्षमता को देखकर बहुत हैरानी होती है। अदहन रखने की या दाल-साग में नमक डालने की उनकी अनुमान-क्षमता अद्भुत होती है। अमुक वस्तु पक गई या कच्ची है, अमुक में खमीर पड़ गया या नहीं, बल्कि अमुक पदार्थ में अमुक-अमुक चीजें मिला दीं या नहीं, ये सारी बातें वे दृश्येन्द्रिय के द्वारा सही-सही जान लेती हैं। पर हमें स्वीकार करना चाहिए कि इन तमाम इंद्रियों का विकास बाल्यावस्था में शास्त्रीय रीति से न होने के कारण इनका विकास व्यापक नहीं हो पाता, मात्र विशिष्ट ही रह जाता है। यह विशिष्टता इन्द्रियों के लंबे समय तक व्यवहार की वजह से ही आती है। इसे हम स्वाभाविक विकास नहीं कहेंगे।

इस सम्बन्ध में पीछे विवेचन किया जा चुका है।

डॉ. मोंटेसरी की दृढ़ मान्यता है कि 'इन्द्रियों के विकास के बाद ही बुद्धि का यथार्थ विकास जन्म लेता है। बुद्धि का सम्पूर्ण विकास इन्द्रिय-विकास पर ही अवलंबित है। इन्द्रिय-शिक्षण की इस दृढ़ एवं व्यवस्थित बुनियाद पर ही बालक का विशुद्ध तथा दृढ़ मन निर्मित होता है।' इनकी यह भी मान्यता है कि इन्द्रिय-शिक्षण के इस उचित समय में (तीन से सात वर्षों के बीच) अगर इन्द्रिय शिक्षण की उपेक्षा की जाती है तो बालक का बुद्धिबल लग-भग पंगु बना रह जाता है।

मोंटेसरी पद्धति में बालक का शिक्षण दो दृष्टियों से किया जाता है—एक, जीवनशास्त्र की दृष्टि से, दूसरा समाजशास्त्र की दृष्टि से। बालक जितना प्रकृति-प्रदत्त गुणों से संचालित है, उतना ही उसे सामाजिक बनना होगा। बालक की सामाजिक स्थिति आज अपरिहार्य है। चेतन मात्र के लिए प्रकृति ने जन्म, वृद्धि तथा क्षय के नियम बना रखे हैं। मानव प्राणी के प्राकृतिक-विकास की मीमांसा करने वाला शास्त्र जीवनशास्त्र कहलाता है, तथा समाज में रहते हुए अपने जीवन को वह अधिक से अधिक सुखी कैसे बना सकता है, उसके नियमों की रचना करने वाला शास्त्र समाज-शास्त्र कहलाता है। जीवनशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करके मनुष्य स्वाभाविक मानवीय गुण प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अलावा मनुष्य को अपने स्व-विकास के लिए जिस तरह से जीवन-शास्त्र की दृष्टि से प्रबंध करने की जरूरत है, वैसे ही कहीं मनुष्य सामाजिक व्यवहारों में दुखी न हो जाए या कहीं मुश्किल में न आ फंसे, इसके लिए उसे समाज के नियमों तथा व्यवस्था सम्बंधी ज्ञान की जरूरत है। मनुष्य का सर्वांग सुंदर विकास हो, तथा मनुष्य सामाजिक बना रह सके, उसके लिए इन्द्रिय-विकास की परिपूर्णता

की जरूरत है। इन्द्रियों का विकास मानवीय शरीर का स्वभाव है। इस विकास को अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचाने में शिक्षा की उपयोगिता निहित है। समाज में रहना बालक की स्वाभाविकता है, लेकिन बालक को समाज में सुव्यवस्थित रूप से योग्य बनने की कला अर्पित करना शिक्षा की ही विशेषता है। डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि बालक को जीवनशास्त्र तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से अगर वांछित शिक्षण देना हो तो उसकी इन्द्रियों की सर्वांग सुन्दर शिक्षा का प्रबंध शुरू से ही किया जाना चाहिए। इसके लिए सही समय है तीन से सात वर्ष की उम्र के बीच का। यह समय बालक के शारीरिक-गठन का है। इस समय में इन्द्रिय-शिक्षण से बालक की अवलोकन क्षमता विकसित होती है, और उसी से उसकी बौद्धिक क्षमता भी विकसित होती है। यही नहीं, इससे बालक अपने आसपास के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को यथार्थ रीति से समझने लगता है, और या तो उनके अनुकूल हो सकता है या उनका सामना करके उनका मुकाबला कर सकता है। इस तरह की शक्ति से रहित बालक समाज में नहीं रह सकता। इसीलिए इस उम्र में इन्द्रियों की समुचित शिक्षा की आवश्यकता है।

जो आंखें देख सकती हैं, जो कान सुन सकते हैं, जो स्पर्शेन्द्रिय छू सकती है, जो जीभ चख सकती है, जो नाक सूंघ सकती है—ये सब, इन्हीं कारणों से ज्ञान प्राप्ति के परिपूर्ण संस्कारित साधन नहीं हैं। देखने वाली आंख, सुनने वाला कान,आदि देखने-सुनने की शक्ति के कारण ही साधन या हथियार हैं, लेकिन जब तक ये संस्कारित नहीं होते, तब तक अपने आप में पूर्ण हथियार नहीं हो पाते। आंख देख सकती है इससे उसकी शिक्षा संभव है, क्या यह बात सही है? डॉक्टरी दृष्टि से ज्ञानेन्द्रियां अगर तंदुरुस्त हों याने बराबर काम करती हों, तो यह नहीं कहा जा सका कि वे ज्ञान के साधन के रूप

में सक्षम या योग्य हैं। हमारे पास मात्र इन्द्रियां हों तो उनसे अवलोकन का काम भली भांति होगा ही होगा, यह बात स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। इन्द्रियों के होने में और संस्कारित इन्द्रियों के होने में फर्क है। आंखें सब के पास हैं याने जो अन्धे नहीं हैं, वे सभी पदार्थों को देख सकते हैं, पर बहुत से ऐसे भी हैं जो वस्तुओं को देख तो सकते हैं पर उनके रंग को नहीं पहचान सकते, याने जो रंग-अंध हैं। बहुत से ऐसे भी हैं जो आवाज को सुन सकते हैं, फिर भी ध्वनि-बधिर हैं। आज हम में से अनेक लोग रंग-अंध, ध्वनि-बधिर, स्वाद-बधिर हैं। इसका करण यही है कि हमारी इन्द्रियां सही ढंग से संस्कारित नहीं हैं।

आंख देख न सके तो व्यक्ति अंधा है, पर आंख अवलोकन (ओब्जर्व) न कर सके तो व्यक्ति रूप-अंध है, यही कहा जाता है। अंधों, रतौंधी वालों या कम सूझने वालों को ठीक करने का काम डॉक्टरों का है। सुनने की त्रुटि वाले कानों को ठीक करने काम चिकित्साशास्त्रियों का है। लेकिन बिल्कुल सही, त्रुटिविहीन इन्द्रियों को सम्पूर्ण शक्ति के विकास की पराकाष्ठा तक पहुंचाने का काम शिक्षाविदों है। इसीलिए डॉ. मोंटेसरी ने एक शिक्षाविद की बतौर इन्द्रिय-विकास के सवाल को अपने हाथ लिया है, न कि एक डॉक्टर के बतौर।

बहुत लोगों की मान्यता है कि देखने में सक्षम आंख को या सुनने में सक्षम कानों को शिक्षित करने की जरूरत नहीं है। इन्द्रियों को उपयोग में लाने से ही इन्द्रिय-शिक्षण का स्वत: विकास हो जाता है, ऐसा कथन है इन लोगों का। सच तो यह है कि सामान्य तौर पर हम अपनी इन्द्रियों को अपने दैनिक व्यवहार में जरूरत के माफिक ही काम में लाते हैं, अत: जिस अनुपात में उनका उपयोग होता है उसी अनुपात में उन्हें शिक्षण मिल पाता है। यह

शिक्षण एक विशिष्ट सीमा तक ही पहुंच सकता है। इस तरह के उपयोग की वजह से इन्द्रियों का विकास विशिष्ट होता है, पर व्यापक नहीं हो पाता। परन्तु विकास की व्यापकता तथा उच्च स्तरीयता के लिए तो इन्द्रियों को खास शिक्षण देना ही चाहिए। अगर हेलन केलर का उदाहरण हमारे सामने न आया होता तो उक्त विचार को हम समझते ही नहीं। स्पर्श का शिक्षण कितनी ऊंचाई तक पहुंच सकता है, हेलन केलर इसका एक जीवंत दृष्टांत हैं। अन्य इन्द्रियों के अभाव की वजह से किसी एकाध जीवंत इन्द्रिय में अन्य इन्द्रियों की शक्ति आकर बैठ जाती है और वह जीवंत इन्द्रिय अधिक बलवान बन जाती है, यह गलत बात है। सचाई यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय का विकास लगभग अपरिमित तथा अमर्यादित होता है। मात्र इस विकास को साधने वाले साधनों तथा परिस्थिति की जरूरत पड़ती है। वर्तमान शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता है कि हेलन केलर में उनकी स्पर्शेन्द्रिय का विकास जिस उच्च कोटि का था, उतनी ही ऊंचाई तक प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक इन्द्रिय का विकास हो पाना संभव है। आज अगर हम में हेलन केलर वाली स्पर्श की शक्ति नहीं है तो इसका यह कारण नहीं कि हम अन्धे, बहरे, गूंगे नहीं हैं, अपितु यह है कि हमारे स्पर्श का विकास अद्यतन नहीं हो पाया। याने हमारे विकास में कोई अवरोध है।

कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि पाठ-योजना की विधि से इद्रियों का विकास होता है। इसी योजना से वर्तमान शालाओं में पाठ पढ़ाने के हास्यास्पद प्रयत्न चल रहे हैं। ट्रेनिंग कॉलेजों में तो पाठ-योजना का झमेला खूब ही चल रहा है। पाठ-योजना का प्रयोजन अवलोकन-शक्ति का विकास करना बताया जाता है, लेकिन अवलोकन कराने से अवलोकन करने की शक्ति नहीं बढ़ती। सही

इन्द्रिय-शिक्षण किये जाने से ही अवलोकन करने की शक्ति स्वत: विकसित होती है। पाठ-योजना से विशिष्ट पदार्थों का परिचय मिलता है तथा पदार्थों के गुण-धर्मों की जानकारी मिलती है, परन्तु वह इन्द्रिय-विकास नहीं है। वस्तुओं का ज्ञान तथा वस्तुओं का परिचय इन्द्रिय-विकास से भिन्न है। इन्द्रिय-विकास व्यापक अवलोकन शक्ति प्रदान करता है, जबकि पाठ-योजना सिर्फ उन-उन पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान प्रदान करती है।

डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि जिन वस्तुओं का हमें अनुभव (पर्सेप्शन) होता है, उन वस्तुओं की जानकारी-ज्ञान-परिचय का नाम इन्द्रिय-शिक्षण नहीं। ऐसे ही, वस्तुओं के नाम की जानकारी का अर्थ इन्द्रिय-शिक्षण नहीं। हम रंगों को पहचान लें और उनके नाम बता दें तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि हमारी रंगों की इन्द्रिय विकसित है ही। रंग के ज्ञान की परीक्षा के दौर से निकलने वाला विद्यार्थी जब तक आकाश में रंगों को देख कर आश्चर्य चकित या आनंद-मग्न नहीं होगा, तब तक हमें यही समझना चाहिए कि उसे रंग की इन्द्रिय के विकास का लाभ नहीं मिला। उसका ज्ञान सिर्फ बौद्धिक है। एक चित्रकार को आकाश के रंग देखकर जो आनंद प्राप्त होता है वही आनंद एक रंगरेज के यहां पड़े कपड़ों के रंगों को देख कर या अन्यत्र बिखरे हुए रंगों को देखकर प्राप्त नहीं होता तो हमें यही समझ लेना चाहिए कि मात्र उपयोग से ही चित्रकार की रंग की इन्द्रिय का विशिष्ट विकास हुआ है, लेकिन उसकी रंग की इन्द्रिय का अभी व्यापक विकास होना शेष है। पदार्थों की पहचान और उनकी जानकारी रखने वालों में तथा पदार्थों के सम्पर्क-जन्य अनुभव से आनंद प्राप्त करने वालों में बहुत अन्तर है। अन्तर भी स्थूल नहीं सूक्ष्म है। प्रदर्शनों के बारे में बताने वाला पथ-द्रष्टा पदार्थों से सुपरिचित हो, पदार्थों की जानकारी और

उनके इतिहास के तथ्यों से परिपूर्ण हो, फिर भी उसकी इन्द्रियां अविकसित-असंस्कारित होने से वह देखने वालों को सहयोग देने की बजाय नुकसान पहुंचाता है। उसके लिए प्रदर्शन कला की वस्तु नहीं होती। यह कारण अति परिचय का नहीं हो सकता, क्योंकि सच्ची कला कलाकार के मन में हमेशा प्रति क्षण नवीनता पैदा करती है— यह किसी एक समय का सत्य है।

डॉ. मोंटेसरी इन्द्रिय-शिक्षण का अलग ही अर्थ ग्रहण करती हैं। इनकी मान्यता है कि जब जब भी इन्द्रियों की मर्यादा वाले पदार्थ इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं, तभी-तभी इन्द्रियों को एक नये ही ढंग का विचित्र अनुभव होता है, जिसे इन्द्रियां ही समझ सकती हैं और ये ही आनंद ले सकती हैं। इसको डॉ. मोंटेसरी इन्द्रिय-अनुभव (सेंसरी एक्सपीरियंस) का नाम देती हैं। ऐसा अनुभव प्रत्येक इन्द्रिय वाले मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। जब मनुष्य इस अनुभव से आप्लावित होता है तब उसमें वस्तुजन्य अनुभव के साथ वस्तु के नाम को जोड़ने की शक्ति आती है अर्थात् तब वस्तु-जन्य अनुभव के साथ वस्तु का नाम जोड़ने का समय आता है। ऐसे वक्त अगर कोई उसे वस्तु का नाम बोलकर बता दे तो वह वस्तुजन्य अनुभव को वस्तु के नाम के साथ जोड़ सकता है। यह स्थिति परिपक्व होते ही, वह वस्तु का नाम सुनते ही वस्तु को पहचानने की क्षमता अर्जित कर लेता है, अर्थात् ऐसे वक्त अगर कोई व्यक्ति उसे वस्तु का नाम सुना दे तो वह वस्तु की पहचान बता देता है। इसके पश्चात् मनुष्य वस्तु के नाम को याद रख सकता है। डॉ. मोंटेसरी मानती हैं कि इन्द्रियों का विकास वस्तुजन्य अनुभव के साथ जोड़ने में नहीं, न वस्तु का नाम सुनते ही उसे पहचानने में है, न ही वस्तु का नाम याद रखने में है। इन्द्रियों का विकास तो इन्द्रियों को स्वाभाविक रीति से प्राप्त होने वाले अनुभव को उसकी

उच्चतम कोटि तक पहुंचाने में निहित है। इसके लिए हमें डॉ. मोंटेसरी के मत को भली भांति समझना है और तदनुसार वांछित क्रिया करनी है। मोंटेसरी पद्धति के उपकरणों के व्यवहार से तभी लाभ मिलने का है कि जब हम यह बात भली भांति समझ लें कि इन्द्रिय-शिक्षण किसे कहना चाहिए।

डॉ. मोंटेसरी इन्द्रिय-शिक्षण को इन्द्रियों की संस्कारिता (सेंसरी कल्चर) कहती हैं। वे बताती हैं कि इन्द्रिय-शिक्षण का उद्देश्य इन्द्रियगम्य पदार्थों के सम्पर्क-संसर्ग में आने पर हमें प्राप्त होने वाले अनुभवों, भावों, प्रभावों को उच्चतम, सूक्ष्मतम अथवा शिष्ट-तम बनाना है। यह शिष्टता या संस्कारिता तभी आ सकती है कि जब संपर्क-संसर्ग में आये पदार्थ की स्वयं-स्फुरित पुनरावृत्ति के प्रयोग से हमें अनुभव प्राप्त हुआ हो। जब कोई पदार्थ हमारे अनुभव-प्रदेश के नीचे आता है तब वह पदार्थ इन्द्रिय के स्वाभाविक धर्म का स्पर्श करता है। जैसे कि कोई गाना गा रहा हो तो कान फौरन उस तरफ खिंच जाता है अथवा रंग की तख्ती को देख कर दृश्येन्द्रिय तत्काल उसे देखने को दौड़ पड़ती है। अब अगर इन तख्तियों या गीतों का उपयोग करने लिए इन्द्रियां बार-बार इनके परिचिय में आएं याने इन्द्रियां बार-बार उन पदार्थों से परिचित होती रहें तो उसके परिणामस्वरूप हमें जो अनुभव स्थायी रूप से उपलब्ध होता है वह इन्द्रिय-शिक्षण की विशिष्टता-स्वरूप है। जो पदार्थ इन्द्रियों को जाग्रत नहीं करता, जिन पदार्थों के उपयोग की तरफ इन्द्रियां बारंबार प्रवृत्त नहीं होती, उन पदार्थों के द्वारा अनुभव सम्भव नहीं है; और जब तक अनुभव नहीं है तब तक इन्द्रियों की सूक्ष्मता की गुंजाइश नहीं है।

मोंटेसरी-पद्धति के प्रबोधक साहित्य (डाइडेक्टिक एपरेटस) का ही उदाहरण ले लें। मान लें कि बालक को हमने गट्टा-पेटी दी

है। अगर बालक उसे देखकर आकर्षित हो जाए, तो हमें समझ लेना चाहिए कि बालक की इन्द्रिय पर गट्टा-पेटी ने अमुक प्रकार की भावना जाग्रत की है, या अनुभव जगाया है। अब यह भावना अत्यन्त सूक्ष्मतम स्थिति को प्राप्त करे, यह तभी कहा जाएगा कि जब बालक की दृष्येन्द्रिय गट्टा-पेटी के द्वारा सधी है, विकसित हुई है। भावना की सूक्ष्मता का आधार इसमें है कि बालक गट्टा-पेटी को बार-बार खुशी से काम में ले और उसमें एकाग्र होकर एकाग्रता से मिलने वाला आनंद प्राप्त करे। परन्तु अगर हम कोई न कोई युक्ति लगाकर बालक से गट्टे डालने की क्रिया करायेंगे, गट्टे अच्छी तरह से डालना सिखा देंगे, गट्टों का परिचय दे देंगे या उनके नाम बता देंगे, तो इससे बालक की इन्द्रिय का विकास नहीं होगा। ये सब बातें समझ में आ जाना एक बात है, और इन्द्रिय का विकास होना—इन्द्रिय-शुद्धि होना दूसरी बात। बेशक, इतना सही है कि इन्द्रिय के शुद्ध विकास के परिणाम स्वरूप ही यह ज्ञान सहज है।

ऐसा विकास होने पर ही इन्द्रिय संबंधी ऐसी शक्ति विकसित होती है कि जिससे इन्द्रियां सभी दिशाओं में, सभी वस्तुओं के प्रति सूक्ष्म बनती हैं, तीव्र बनती हैं, सुनिश्चित बनती हैं, समता कर सकती हैं और सोद्देय निर्णय ले सकती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इन्द्रियां बराबर अवलोकन कर सकती हैं, प्रयोग कर सकती हैं, तथा अन्तत: अनुभव ग्रहण कर सकती हैं।

अवलोकन, प्रयोग व अनुभव के परिणाम स्वरूप डॉ. मोंटेसरी ने इन्द्रिय -विकास के साधन ऐसे बनाये हैं कि जिनसे इन्द्रियों का व्यापक एवं उच्च कोटि का विकास संभव हो जाता है, यही नहीं, इन साधनों के द्वारा इन्द्रियों का विकास तलाशने वाला बालक अपनी इस वय में वह सब सीख सकता है, जिसे वह इस संसार में सबसे पहले सीखना चाहता है।

यह दुनिया रूप एवं रंग से भरपूर है। बालक भी अपनी इस वय में रूप एवं रंग का ज्ञान प्राप्त करने को तरसता है। मोंटेसरी पद्धति के उपकरण बालक की इस तृषा का शमन करते हैं तथा बालक की दृष्टि के समक्ष पूरे विश्व के गुप्त रहस्यों का खजाना खोल कर उसका जीवन सुखमय बना देते हैं। शैला रेडिस एक स्थल पर लिखती हैं कि जब बालक की इन्द्रियों का पूरी तरह से विकास हो जाता है तो सारा संसार उसे जीवंत लगता है। संसार के विभिन्न पदार्थ, ध्वनियां, रूप, रस, गंध आदि बांहें फैला कर उसका स्वागत करते हैं और कहते हैं : 'यहां आओ, मेरे रंग को देखो, मेरा रूप ऐसा है, मेरी सुगंध ऐसी है, मेरी ध्वनि ऐसी है। जब बालक को प्रकृति और मानवीय आकृति यों आमंत्रित करने लगे तो समझना चाहिए कि बालक में इन्द्रिय-विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है।

इस सम्बन्ध में मोंटेसरी शाला के शिक्षकों को तो रोजमर्रा ही देखने का अवसर मिलता है अत: यह उनका रोजाना का अनुभव है। बालक जिधर भी नजर डालता है उसी तरफ उसे रूप का अद्भुत जादू देखने को मिलता है। जिस चीज को भी वह छू लेता है उसी में कोमलता की अपूर्व कविता रच देता है; जिस किसी भी चीज को वह सूंघता है उसी में उसे गंध की नवीनता महसूस होने लगती हैं; जिधर भी वह कुछ सुनने की कोशिश करता है उधर ही उसे सरस बातें सुनने को मिलती हैं। इन्द्रिय-विकास का काम स्वयं बालक को ही करना है। इस संबंध में उसे भाषण देने से इन्द्रिय-विकास नहीं हो सकता। इन्द्रिय-विकास एक ऐसी चीज है कि जिसमें दूसरों का शिक्षण कर पाना असंभव है। यथा—जिसे भूख लगती है, उसे स्वयं खाना पड़ता है, उसके बजाय कोई दूसरा व्यक्ति खाये तो भूखे व्यक्ति की भूख नहीं मिट सकती।

ठीक इसी प्रकार जिसे इन्द्रिय-विकास करना है उसी को इसके लिये जूझना पड़ता है। जिस तरह से व्यायाम-शिक्षक विद्यार्थी को शारीरिक बल नहीं दे सकता हाँ, व्यायाम शिक्षक के निर्देशानुसार आचरण करके ही विद्यार्थी शारीरिक शक्ति प्राप्त कर सकता है, इसी तरह इन्द्रिय-विकास भी बालक को स्वयं करना होगा। संक्षेप में यों करना चाहिए कि इन्द्रिय-शिक्षण शिक्षक की शक्ति पर अथवा शिक्षण-विधि पर आधारित नहीं है। इसका सारा आधार बालक के निजी प्रयत्नों पर निर्भर है। इसीलिए मोंटेसरी पद्धति में शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक है और शिक्षण की विधि सामूहिक की बजाय व्यक्तिगत है। जहां व्यक्ति को अपने विकास के लिए स्व-प्रेरित प्रयत्न करने होते हैं वहां शिक्षण का स्तर व्यक्तिगत हो, यही स्वाभाविक है। मोंटेसरी पद्धति में कक्षा-शिक्षण या समूह-शिक्षण नामक चीज नहीं है, यह बात सुविदित है।

इन्द्रिय-विकास के लिए डॉ. मोंटेसरी ने जो-जो साधन निर्मित किये हैं, उनके पीछे दृष्टि यही रही है कि काम में लाने पर बालक की इन्द्रियों का सहज ही विकास होने लगता है, साथ ही इनको काम में लाते समय बालक जो-जो त्रुटियां करते हैं उनका स्वयं ही पता लगा सकते हैं और अपने में सुधार कर सकते हैं। अगर इन साधनों में यह गुण नहीं होता तो बालक अपने विकास के लिए पुनरावर्त्तन करते ही नहीं। पुनरावर्त्तन की वृत्ति अपनी भूल सुधारने के लिए है। बालक स्वयं अपनी त्रुटि सुधार सकता है, इसी में उसके इन्द्रिय-विकास की तृप्ति है। इसीलिए मोंटेसरी पद्धति के साधन स्व-शिक्षण (ओटो-एज्युकेटिव) एवं स्व-संशोधन (ओटो-करेक्टिव) करने वाले माने जाते हैं। अगर साधन स्वयं बालक की भूल न सुधारें तो पुनरावर्त्तन हो ही नहीं सकता और अगर साधन बालक को स्व-शिक्षण की प्रेरणा न दें, तो शिक्षक

की जरूरत पड़े बिना नहीं रहती।

इन्द्रिय-शिक्षण के बारे में दो-एक बातें ध्यान में रखने की हैं। एक साथ सभी इन्द्रियों के शिक्षण की योजना में जोखिम रहती है। जहां एक पदार्थ पर एक-साथ एकत्रित इन्द्रियों का व्यापार चलता है वहां भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न समय पर विकसित करने की योजना बनानी आवश्यक है। स्पर्शेन्द्रिय के शिक्षण के समय अगर आंख को बंद नहीं किया जाएगा तो स्पर्श-शिक्षण में बाधा आएगी। जब तक आंख स्पर्श को सहायता देती है तब तक स्पर्श का विकास अधूरा रहता है। इन्द्रिय-शिक्षण की योजना ऐसी होनी चाहिए कि जिससे सभी इन्द्रियों का विकास साथ-साथ होता रहे। एक इन्द्रिय का विकास अत्यधिक हो जाए और दूसरी इन्द्रिय अविकसित रहे तो इन्द्रिय-विकास की ऐसी योजना त्रुटिपूर्ण समझी जाएगी। प्रत्येक इन्द्रिय अपना काम दूसरी इन्द्रिय की सहायता लिये बिना बराबर करने में लगी रहे, यह बात ध्यान से बाहर नहीं जानी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक से अधिक इंद्रियों को एक साथ मिलकर ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया करनी ही नहीं चाहिए। कहने का अर्थ इतना ही है कि प्रत्येक इंद्रिय अच्छी तरह से सध जानी चाहिए। साधने की इस कार्यवाही के समय अन्य इन्द्रियों के व्यापार बंद रहने चाहिए, ताकि साधने वाली इंद्रिय को विक्षेप न पड़े। इसी को मोंटेसरी पद्धति में 'इन्द्रिय नियोजन' (आइसोलेशन ऑव सेंसेज) कहा जाता है। अन्य इन्द्रिय-व्यापारों को बंद करने से बालक का ध्यान तीव्र बनता है तथा इन्द्रियों का विकास सरल व पुख्ता बनता है।

दूसरी एक बात यह ध्यान देने की है कि जब इन्द्रिय विकास के लिए हम बालक के समक्ष साधन रखें, उस समय सबसे पहले हमें उस साधन में रहने वाली समानता बतानी है, बाद में उनमें रहने

वाली असमानता बतानी है, और अन्त में उनमें विद्यमान प्राकृतिक क्रम बताना है। शिक्षण में यह क्रम शास्त्रीय है। सबसे पहले समानता, (आइडेंटिटी) फिर असमानता (कंट्रास्ट) और अन्त में क्रमांकन (ग्रेडेशन)। उदाहरणार्थ, रंग को इन्द्रिय को विकसित करने के लिए हम बालक के पास रंग की दो पेटियां लाये। पहले हमको एक या एक से अधिक मूल रंग चुन कर बालक को बताने हैं और उनके जैसे रंग बालक से ढुंढवाने हैं। इसके पश्चात् हम एक ही मूल रंग का अत्यन्त गहरा रंग लें, और इसी रंग का अत्यंत हल्का रंग लें। इसके बाद इन दोनों रंगों में विद्यमान असमानता बालक को बतायें। अन्त में इसी रंग के छाया रंगों की क्रमिकता बालकों को बतानी है। जहां-जहां भी संभव हो वहीं-वहीं इन्द्रिय-विकास के लिए इन्द्रिय-विकास के साधन ऊपर बताये गए क्रम के अनुसार बालक के समक्ष रखने हैं। बालक के पास प्रत्येक साधन कैसे रखे जाएं इस बारे में अन्यत्र विस्तार से लिखा गया है।

जिस समय बौद्धिक शिक्षण की बुनियाद के बतौर इन्द्रिय-शिक्षण का काम चलता हो, उस समय साथ ही साथ बालक को इन्द्रिय के द्वारा जो अनुभव प्राप्त होते हैं उन्हें भाषायी स्वरूप प्रदान करना जरूरी है। भाषा का विकास बालक के सामाजिक शिक्षण का विभाग है। इन्द्रियों के द्वारा हुए बालक के भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों को भाषायी स्वरूप देने की सर्वोत्तम विधि डॉ. मोंटेसरी के पूर्ववर्ती शिक्षाविद एवं गुरु सेगुइन ने व्यवहार में ली थी। इस विधि को मोंटेसरी पद्धति में 'सेगुइन त्रिपद' नाम से जाना जाता है।

इन पदों में से प्रथम पद है इन्द्रियों[1] के द्वारा प्राप्त पदार्थ के

1. Association of the sense-perception with the name.

अनुभव को पदार्थ नाम के साथ जोड़ना। द्वितीय[1] पद है नाम से जुड़े पदार्थ को नाम सुनने के साथ ही पहचान लेना, और तृतीय[2] पद है पदार्थ के साथ जुड़े नाम को स्मृति में रखना।

उदाहरण के तौर पर मान लें कि हमें बालकों को लाल और नीला—इन दो रंगों की भाषा सिखानी है, तो सेगुइन के त्रिपद को हम इस तरह से उपयोग में लायेंगे।

पहले हम बालक को रंग की एक तख्ती देकर कहेंगे कि 'यह लाल रंग है', फिर नीला रंग बताते हुए कहेंगे कि 'यह नीला रंग है।' यह हुआ प्रथम पद। पदार्थ के नाम को पदार्थ के परिचय से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव के साथ हमने जोड़ा, याने लाल और नीले रंग की हमारी आंख में जो कल्पना है उनके नाम हमने बताये। इसके बाद हमें बालक से कहना है कि 'लाल रंग बताओ', 'नीला रंग बताओ', यह हुआ द्वितीय पद। इसमें पदार्थ के नाम के उच्चारण से बालक पदार्थ की पहचान का ज्ञान प्रदर्शित करता है। अंत में हम 'लाल' बताकर पूछेंगे कि 'इसका क्या नाम है!' बालक बिल्कुल सही जवाब देगा कि 'इसका नाम लाल है, और इसका नीला।' यह हुआ तृतीय पद। इसमें यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ का नाम बालक को स्मरण रहा है।

उक्त त्रिपद के माध्यम से डॉ. मोंटेसरी ने सभी भाषाओं का शिक्षण देने की सिफारिश की है।

□

1. Recognition of the object corresponding to the name.
2. Remembering of the name corresponding to the object.

प्रकरण नवां

इन्द्रियों का शिक्षण : व्यवहार

हमारी दृश्येन्दिय के शिक्षण के उपकरण ये है : 1. गट्टा-पेटी के तीन नग; 2. मीनारें; 3. चौड़ी सीढ़ी; और 4. लम्बी सीढ़ी।

प्रथम साधन : गट्टा पेटी के तीन नग

वर्णन

प्रत्येक पेटी लकड़ी की बनी होती है। लम्बाई 55 सेंटीमीटर, ऊंचाई 6 सेंटीमीटर और चौड़ाई 8 सेंटीमीटर होती है। प्रत्येक में दस-दस खाने होते हैं। इन खानों में पूरी तरह से उनके आकार लंबाई-गहराई के हिसाब से समाने वाले लकड़ी के बने दस-दस गट्टे होते हैं। गट्टे नलाकार होते हैं, लकड़ी के ही बने हुए। प्रत्येक गट्टे के ऊपर लकड़ी की बनी पकड़ने की एक घुंडी होती है, जिसे चाहें तो बटन या शिखर या चोटी कह लें। इस बटन को पकड़ कर गट्टे को खाने से बाहर निकाला जाता है और अन्दर डाला जाता है।

पहली पेटी के गट्टे एक समान लम्बाई के हैं, लेकिन प्रत्येक गट्टे के व्यास में अन्तर होता है। सबसे पहले गट्टे का व्यास 1 सेंटीमीटर का है। उसके बाद क्रमशः प्रत्येक मोटे होते जाते गट्टों में $\frac{1}{2}$ सेंटीमीटर का अन्तर रखा गया है।

दूसरी पेटी के गट्टे लम्बाई और व्यास में अलग-अलग हैं। सबसे छोटा गट्टा लंबाई में 1 सेंटीमीटर और चौड़ाई में भी 1 सेंटीमीटर का है। इस सबसे-छोटे वाले गट्टे से क्रमशः मोटे होते जाते प्रत्येक गट्टे में ऊंचाई तथा व्यास का $\frac{1}{2}$ सेण्टीमीटर का अन्तर रखा गया है।

तीसरी पेटी के गट्टे एक-समान व्यास के हैं पर उनकी लम्बाई में फर्क है। सबसे छोटा गट्टा ऊंचाई में मात्र 1 सेण्टीमीटर है। उससे क्रमशः लम्बे होते जाते गट्टों में 5 मिलिमीटर का फर्क है। सबसे लम्बा गट्ट 55 मिलिमीटर का है।

यहां मैंने गट्टा पेटियों का जो क्रम बताया है वह क्रम डॉ. मोंटेसरी की मूल पुस्तक में नहीं है। उसमें तीसरे नम्बर की पेटी दूसरे नंबर पर है और दूसरे नंबर वाली तीसरे नंबर पर। लेकिन खेल के क्रम में तीसरे नंबर की पेटी पहले नंबर के बाद काम में लाई जाती है, अतः मैंने यहां खेल वाले क्रम का ही अनुसरण किया है।

इस उपकरण को काम में लाने से बालक के मानसिक निर्माण में व्यवस्था तथा विकास उत्पन्न होता है। बालक को तल्लीन बनाने में याने उनकी एकाग्रता में ये साधन उन पर जादू का-सा असर डालते हैं। तल्लीनता से बालक में सुनियंत्रण, शांत एवं अनुशासित जन्म लेते हैं। साधनों के व्यवहार में अन्तर होते हुए भी आवश्यक लाभ यह है कि इससे बालक की दृश्येन्द्रियों का शिक्षण होता है; वस्तुओं के मोटेपन-पतलेपन, लंबाई-चौड़ाई, ऊंचाई-नाटाई का फर्क समझना बालक सीख जाता है।

साधनों के उपयोग की विधि

ये उपकरण ढाई से साढ़े तीन वर्ष की उम्र के बालक के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं। ये उपकरण ही ऐसे हैं कि ये बालकों

से होने वाली भूल उन्हें अपने आप बता देते हैं। शुरूआत में बालक अपना काम सही करता है या गलत, इस पर विचार करने की भी जहमत नहीं पड़ती । साधन अपने-आप बता देते हैं कि बालक का काम सही है या गलत । उसे इस बात का पता लगाने के लिए अपना दिमाग लगाने की जरूरत नहीं पड़ती कि उसकी क्या गलती रह गई ! पर भूल को सुधारने में बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है । अध्यापक को भूल सुधारने की जरूरत नहीं पड़ती । उदाहरणार्थ, अगर बालक पहली या दूसरी पेटी का गट्टा गलत खाने में डालना चाहेगा तो गट्टा उस खाने में फंसेगा ही नहीं, या फिर बराबर फिट नहीं बैठेगा : जब गट्टा खाने में जाएगा ही नहीं तो बालक को अपनी भूल फौरन नजर आ जाएगी; पर अगर कोई गट्टा किसी बड़े खाने में डाल दिया जाएगा और यह बात बालक की नज़र में नहीं आ पाएगी, तो आखिर में एक गट्टा शेष बचा रह जाएगा । तीसरी पेटी में ऊपर वाली बात नहीं होगी । उन खानों में तो हरेक गट्टा आसानी से जा सकेगा, पर बालक आंखों से देखकर अपनी भूल समझ जाएगा और त्रुटि सुधार सकेगा ।

शुरू में अध्यापक बालक को गट्टा पेटी दिखाए और खानों से गट्टों को निकाल कर आपस में मिला दे, फिर बालक से कहे कि वह खानों में गट्टे डाले । अध्यापक स्वयं खानों में गट्टे न डाले । बहुधा यह सब अध्यापक को स्वयं करने की जरूरत नहीं रहती, क्योंकि अन्य बालकों को साधनों पर काम करते देख कर नया बालक भी साधनों का काम करने का तरीका जान जाता है । बताने पर भी अगर बालक गट्टे-पेटी को काम में न ले तो पहले यह जान लेना चाहिए कि बालक उसका उपयोग करना समझा भी है या नहीं। अगर ऐसा लगे कि बालक नहीं समझा, तो उपर्युक्त रीति से उसे साधनों को उपयोग में लाना सिखाया जाए । ऐसे समय गट्टे

डाल कर बताने में भी कोई अड़चन नहीं । बालक साधन का उपयोग करना समझ चुका हो, फिर भी अगर वह उनका उपयोग नहीं करता तो यह समझ लेना चाहिए कि या तो बालक अभी उसके अनुकूल योग्य नहीं हुआ, अथवा वह उससे ऊंचे दर्जे के साधन हेतु योग्य होने के कारण उसे हाथ लगाना नहीं चाहता । ऐसी स्थिति में बालक की दशा का अवलोकन करके या साधन उसके सामने रख कर उनकी मनःस्थिति का पता लगा लेना चाहिए । अगर बालक साधनों को एकाध बार काम में लाकर छोड़ दे तो समझ लें कि वह ऊंचे दर्जे के साधनों हेतु योग्य है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह ऊंचे दर्जे के साधनों को तत्काल काम में लेगा । कई बार ऐसा होता है कि एक साधन को व्यवहार में लाने की विधि जानने के पश्चात् बालक लंबे समय बाद ही उस साधन को काम में लाता है। इस पुनरावृत्ति में ही बालक का बौद्धिक विकास समाया हुआ है । साधनों को बार-बार काम में लाने से उसे लाभ की प्राप्ति हुई है । उसके स्तर के अनुकूल कौनसा साधन उचित है यह जानने के लिए उसके समक्ष अनेक साधन रखने पर भी अगर बालक उनमें से एक भी काम में नहीं लेता तो हमें उसे डॉक्टर को दिखाने की या उसका इतिहास जानने की खास जरूरत है। कई बार ऐसा होता है कि घर से अस्वस्थ होकर आया बालक बाल-मंदिर के काम में संलग्न नहीं हो पाता ।

किसी साधन को काम में लाते समय बालक चाहे जितनी बार भूल करे या चाहे जितनी बार उसे सुधारने हेतु संघर्ष करे, तब भी न तो शिक्षक को जल्दबाजी करने की जरूरत है, न भूल को सुधारने की । कदाच किसी दिन बालक अपनी भूल न सुधार पाने के कारण अपना काम छोड़ भी बैठे, पर अगले दिन बालक अपने उसी काम को हाथ में उठा लेगा और जब तक अपनी त्रुटि

का पता लगाकर सुधार नहीं कर लेगा, तब तक उस साधन को उपयोग में लाता ही रहेगा। शिक्षक को बालक की त्रुटि न सुधारने के लिए ऊपर जो निर्देश दिया गया है, उसकी वजह यह है कि बालक को खानों में गट्टे सही ढंग से डालना आ जाए, यह ज्ञान देना इस साधन का उद्देश्य नहीं है, परन्तु बालक स्वयं अवलोकन करना, राय बनाना, चिंतन करना, निर्णय तक पहुंचना सीखे, ऐसी शक्ति उसमें आये, यही मुख्य उद्देश्य है उसका। अपने आप वह साधनों के पीछे संलग्न रहे, तथा अपने आप अपनी त्रुटियां सुधारे, तभी बालक अपना विकास कर सकता है। जब भी बालक खानों में गट्टे डाले तो बायें हाथ की उंगलियों और अंगूठे से गट्टे की घुंडी को पकड़े और दायें हाथ की तर्जनी से या तर्जनी और मध्यमा से गट्टे के निचले सिरे की किनार पर हाथ फिराये, और तब गट्टे डाले, इस तरफ बालक का ध्यान आकृष्ट किया जाना चाहिए। यह क्रिया आवश्यक भी है और उपयोगी भी। इस क्रिया से आंख के शिक्षण के साथ-साथ स्पर्श के शिक्षण को भी मौका मिलता है। इससे लेखन और चित्रकला की परोक्ष तैयारी शुरू होती है। ध्यान रखें, उंगलियां दांयी से बांयी ओर फिरें। तीसरी पेटी में गट्टों के चारों तरफ उंगलियां फिराने की जरूरत नहीं है, उसमें खानों में उंगलियां डालने की जरूरत है। इसका कारण यह है कि इस पेटी के गट्टों की परिधि एक-समान है। इन गट्टों से बच्चे कई खेल खेल सकते हैं। पहला खेल है एक से अधिक पेटियों के गट्टों को आपस में मिला कर उन्हें वापिस पेटियों में रखना। दूसरा खेल आंखों पर पट्टी बांध कर या आंखें बंद करके या मुंह ऊंचा करके गट्टों को खानों में डालना। आंखों पर पट्टी बांध कर गट्टे खानों में डलवाने की क्रिया से बालक की स्पर्शेन्द्रिय का विकास होता है। यह एक अवांतर लाभ

है। पेटी को दूर रख कर गट्टों के ढेर में से क्रमानुसार गट्टे ले जाकर पेटी के खानों में भरने की क्रिया से बालक की स्मरण शक्ति विकसित होती।

अगर बालक साधनों का दुरुपयोग करने लग जाये, जैसे गट्टे-पेटी की रेलगाड़ी बनाये, गट्टों को तोड़े, या उन्हें खानों में उल्टा फंसा कर ठोंके, या उनसे बंगला बनाने का खेल शुरू कर दे, या उन्हें फैंके, तो साधन बालक से ले लेने चाहिए। इसके बजाय बालक को कोई दूसरा साधन दिया जाए कि जिससे उनकी भावना को तृप्ति मिले। जैसे अगर बालक में मकान बनाने की वृत्ति दिखाई पड़े तो उसे फ्रॉबेल वाली ईंटों और घनों की पेटी दी जा जा सकती है।

जब बालक गट्टों को खानों में क्रमानुसार रखने लग जाए या वह जिस गट्टे को हाथ में ले उसे ठीक उसी के खाने में सीधे-सीधे डालने लगे तो समझना चाहिए कि बालक गट्टे-पेटी के उपयोग की दिशा में ठीक ढंग से आगे बढ़ रहा है।

जब गट्टों के साथ बालक का अच्छी तरह से परिचय हो जाए तो गट्टों की सहायता से उसे कुछ शब्द सिखाये जाने चाहिए।

तीनों पेटियों से ये शब्द सिखाये जाएं— मोटा, पतला, छोट, बड़ा, ऊंचा, नीचा, लंबा, नाटा। यह बालक के बौद्धिक विकास की स्थिति है। इसे बुद्धि-विकास का शिक्षण कहा जाता है। सरलता की दृष्टि से इन्द्रिय-विकास के शिक्षण वाले प्रकरण में इस विषय का विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त शब्द सिखाने की, अर्थात् बुद्धि-विकास की शिक्षा देने की विधि इस तरह से है :

(1) सर्व प्रथम पहले नंबर वाली गट्टा-पेटी से गट्टे बाहर

निकालने ।

(2) उन्हें एक-दूसरे के पास-पास क्रम से जमीन पर या टेबिल पर आडा (होरिजेंटल पोजिशन में) रखना ।

(3) अंतिम सिरे वाले दो गट्टों को (सबसे मोटा सबसे दुबला) नाम देने के लिए चुनना ।

(4) उनको उठाये बिना, उन पर उंगली रख कर या उनकी तरफ संकेत करके उनका नाम बनाना कि यह मोटा, यह दुबला ।

(5) फिर दोनों सिरों वाले गट्टों को उठा कर पास-पास रखना, ताकि उनके बीच का फर्क अच्छी तरह से दिखाई दे ।

(6) फिर दोनों को खड़ा रखना और बताना कि ये दोनों लंबाई में एक-समान हैं ।

(7) तदुपरांत सेगुइन के शेष दो पदों को काम में लाना । छात्रों से कहा जाए : 'मोटा दो, पतला दो ।' जब बालक मोटा और पतला लाकर बता दे तो उससे पूछा जाए—'यह कैसा है ? यह कैसा है ?' और बालक कहे कि 'यह मोटा है और यह पतला है' तो समझ लेना चाहिए कि बालक को इन दो शब्दों का ज्ञान हो चुका है ।

अंतिम दो गट्टों की इस तरह जानकारी देने के बाद उन्हें छिपा दिया जाए और शेष गट्टों में से दोनों सिरों से एक-एक गट्टा चुना जाए । उपर्युक्त रीति से उनका भी नामकरण किया जाए । इस प्रकार सभी गट्टों का परिचय मिल जाने के पश्चात् तमाम गट्टों में से कोई से गट्टे लेकर बालक से पूछा जाए—'इससे थोड़ा-सा पतला गट्टा लाओ, इससे थोड़ा-सा मोटा गट्टा लाओ ।'

इस तरह शब्द सीखते समय बालक कहीं त्रुटि कर दे, तो उसी वक्त उसे सुधारने के बजाय उस दिन तो उसे न ही सिखाया जाए । 'बड़ा' और 'छोटा' शब्द सिखाने के लिए दूसरी गट्टा पेटी का इस्तेमाल किया जाए तथा उपर्युक्त रीति का अनुसरण किया जाए ।

'ऊंचा, नीचा' या 'लम्बा, नाटा' शब्द सिखाने के लिए तीसरी पेटी का उपयोग किया जाए और उसमें निम्नलिखित पद्धति का अनुकरण किया जाए ।

1. गट्टों को पेटी से बाहर निकाला जाए ।
2. उनको जमीन पर या टेबिल पर रखा जाए ।
3. उनमें से अंतिम सिरों के दो को नाम देने के लिए चुना जाए ।
4. उनको उठाये बिना 'यह ऊंचा है, यह नीचा है', इस तरह नाम देना ।
5. फिर दोनों को उठा कर पास-पास खड़े करना ताकि दोनों के बीच का फर्क बालक को मालूम पड़ सके ।
6, फिर दोनों को उठा कर पास-पास आड़े रखना, और उनका मोटापन बताना, याने नीचे का हिस्सा एक जैसा है ।

तदुपरांत जैसे ऊपर पहली गट्टा-पेटी का उपयोग करते समय सेगुइन के दो पदों को व्यवहार में लाने की बात कही गई है, वैसे ही इन दोनों पदों को यहां भी व्यवहार में लाना । फिर ऊपर बताये मुजब सभी गट्टों के साथ काम करना और कोई सा भी गट्टा उठा कर बालक से पूछना कि 'इससे नाटा गट्टा लाकर दे, इससे लम्बा गटा लाकर दे ।'

दूसरा साधन : मीनारें

वर्णन

ये मीनारें लकड़ी के दस घनों को लेकर बनाई गई हैं । सबसे

बड़ा घन दस सेंटीमीटर का है और सबसे छोटा घन एक सेंटीमीटर का। इन घनों को गुलाबी रंग के ऐनेमल से रंगा गया है। इस साधन को काम में लाते समय बैठने के लिए नीले रंग की दरी होनी चाहिए। खास तौर पर ढाई से तीन वर्ष की उम्र के बालक के लिए यह साधन काम का है।

साधन के उपयोग की विधि

मीनार के दस टुकड़ों को दरी पर अलग-अलग रख कर पहले सबसे बड़े को नीचे रखा जाए, फिर उससे छोटे को। इस तरह एक पर एक छोटे घनों को रखते जाएं, और सबसे ऊपर सबसे छोटा घन रखा जाए। इस प्रकार एक मीनार बन जाएगी। मीनार बना कर बालक के देखते-देखते उसे नीचे गिरा दो और फिर उस पर काम करने के लिए बालक को मुक्त छोड़ दो।

गट्टा-पेटी को काम में लाने के लिए जो-जो निर्देश दिये गये थे, उनमें से जो-जो यहां संगत प्रतीत होते है, उनके बारे में समझने की जरूरत है। यह साधन भी ऐसा है कि मीनार बनाते समय होने वाली त्रुटि अपने आप समझा देता है। जब बालक कोई भूल करे तो शिक्षक को बीच में पड़ने की, या उसे दुरुस्त करने की जरूरत नहीं है। समान्यतया बालक पहले दो घनों को सही ढंग से रखने की गलती करता है यह भूल आगे जाकर अपने आप ठीक हो जाती है। घनों से मीनार बनाना अच्छी तरह आ जाने के पश्चात् इन घनों से कुछ और खेल खेले जा सकते हैं। मीनार के घनों को एक कोने में रख कर दूर वाले सामने कोने में मीनार बनाने की क्रीड़ा से बालक की दृष्टि की परख होती है, साथ ही उसकी स्मरण शक्ति बढ़ती है। मीनार को गिराये बिना घर के एक कोने से दूसरे कोने तक ले जाना भी एक खेल है। यह अच्छा खेल है। आंखों पर पट्टी बांध कर मीनार बनाने का काम स्पर्शेन्द्रिय

का लाभ पहुंचता है। बार-बार मीनार बनाने से बालक को अच्छा व्यायाम मिलता है। बालक की आंख विकसिक होगी तभी वह घनों को सही क्रम से रख सकेगा। घनों का उपयोग बहुत आवश्यक है। गट्टों से जब आंख का समुचित विकास हो जाए तभी घन का उपयोग सफल रहता है। लम्बे समय तक जब बालक मीनारों का उपयोग कर ले, तभी उसे 'बड़ा' और छोटा' शब्दों का ज्ञान देना चाहिए। यह ज्ञान निम्न विधि से दिया जाए।

1. मीनारें आडी रखी जाएं।
2. सबसे बड़ा और सबसे छोटा—दो घन चुने जाएं।
3. फिर घन को उठाये बिना उसे इंगित करते हुए उसके नाम बताये जाएं कि 'यह बड़ा घन है, और यह छोटा।'
4. इसके पश्चात् सेगुइन के दो पदों के अनुसार कार्यवाही की जाए कि बताओ 'बड़ा कौन सा है? छोटा कौनसा है?' और 'यह कैसा है? वह कैसा है?'
5. फिर किनारे वाले दो घनों को हटाकर उनके बाद के घनों के बारे में ऊपर की विधि से बालक को पूछा जाए। इसी तरह सभी घनों की जानकारी का लेन-देन किया जाए।
6. अंत में कोई-सा घन उठा कर बालक से कहा जाए कि 'इससे बड़ा घन लाओ? इससे छोटा घन लाओ?'

अगर बालक मीनार के घनों का दुरुपयोग करने लगे तो उसको रोक दो। घनों से अगर वह रेलगाड़ी का खेल खेले, बंगला या मकान बनाये तो ऐसा न करने दें। घनों का उपयोग तो मीनारें बनाने में ही निहित है।

तीसरा साधन : चौड़ी सीढ़ी

वर्णन

यह सीढ़ी लकड़ी के लम्बे घन से (Quadrilateral prism)

बनती है। सबसे बड़े लम्बघन का चोरस भाग दस सेंटीमीटर होता है तथा सबसे छोटे लम्बघन का चोरस भाग एक सेंटीमीटर होता है। प्रत्येक लंबघन की लंबाई बीस सेंटीमीटर होती है। इनका रंग गहरा भूरा (dark brown) होता है।

साधन के उपयोग की विधि

सीढ़ी के प्रत्येक टुकड़े को जमीन पर एक के पास एक आडा रख कर सीढ़ी बनाइए, और फिर इन टुकड़ों को अलग-अलग रख कर सीढ़ी को बिखेर दो। अब बालक को अपने आप इस साधन पर काम करने के लिए छोड़ दो। गट्टे-पेटी और मीनार के बारे में जो निर्देश दिये जा चुके हैं उनमें से जो-जो संगत लगें, उन जानकारियों का इस साधन में उपयोग कीजिए। एक बार साधन को उपयोग में लाने की विधि बताने के बाद अगर बालक उसमें बार-बार भूले करे तो शिक्षक को उन भूलों को सुधारने के लिए बीच में आने की जरूरत नहीं है।

सीढ़ी बनाते समय बड़े पगथिये से शुरूआत होती है। इस संबंध में बालक को अपनी इच्छा का अनुसरण करने दिया जाए।

साधन के बारंबार उपयोग से बालक की सधी हुई आंख भूल को ढूंढ़ लेगी। गट्टों की तरह यह साधन अपने आप भूल को सुधारने वाला नहीं है, पर आंखों द्वारा बालक अपनी भूल को ढूंढ़ सकता है। इन पगथियों का दुरुपयोग न करने दीजिए। इनसे पुल बनाना, या रेल बनानी या कुंआ बनाने आदि सब दुरुपयोग के दृष्टांत हैं। इन लंब घनों का परिचय प्राप्त हो जाने के बाद बालक को इनसे संबंधित शब्द सिखाने चाहिए। मीनार के घनों द्वारा शब्द सिखाने की जो विधि ऊपर बताई गई है, उसी रीति के अनुसार पगथियों के शब्द सिखाइए। इनमें 'मोटा' और 'पतला' ये दो शब्द सिखाये जाने हैं।

चौथा साधन : लम्बी सीढ़ी

वर्णन

यह सीढ़ी चोकोर दस डंडों की होती है। इनका प्रत्येक भाग दस सेंटीमीटर का होता है। पहले डंडे की लंबाई एक मीटर होती है और अन्तिम डंडे की लंबाई एक डेसीमीटर होती है। प्रत्येक डंडे में एक डेसीमीटर का अन्तर होता है। सीढ़ी दो तरह की होती है, एक रंगे हुए पट वाली, और दूसरी बिना रंग के पट वाली। बिना रंग के पट वाले प्रत्येक डंडे में एक डेसीमीटर की लंबाई लाल रंग की होती है और एक डेसीमीटर की लम्बाई नीले रंग की। डंडों पर लाल और नीला रंग पर्याय-क्रम से लगाया जाता है। बिना रंग के पट वाली सीढ़ी को पहले उपयोग में लाना चाहिए। डंडों को लंबाई में जमा कर बालक से यह बताया जाना चाहिए कि उनसे सीढ़ी (आकार) कैसी बनती है। तब उन डंडों को बिखेर दीजिए और बालक को वैसा करने दीजिए। रंगे हुए पट वाले डंडों को उनके बाद लिया जाए।

साधन के उपयोग की विधि

एक दरी पर दसों डंडों को अलग-अलग रख दें। उन्हें आपस में मिला दें। अब आप उन्हें जोड़ कर बालक को सीढ़ी बना कर बतायें। यह बताने के बाद सीढ़ी को वापिस बिखेर दें और बालक को अपने आप बनाने के लिए मुक्त छोड़ दें। सीढ़ी बन जाने के बाद सीढ़ी के पगथियों की तरफ तथा रंगों के पट्टों की तरफ बालक का ध्यान खींचा जाना चाहिए। डंडों को जमीन पर आडे रखकर अथवा एक के ऊपर एक रखकर सीढ़ी बनाई जा सकती है। सीढ़ी के पहले पगथिये के रूप में नीचे सबसे लंबा डंडा रखा जाए और अंतिम पगथिये के लिए सबसे छोटा। डंडों को इस तरह से सजायें कि प्रत्येक डंडे का रंग दूसरे डंडे के रंग से मिल जाए और सीढ़ी

बन जाने पर दो रंगों के अलग-अलग पट्टे दिखते रहे।

इस साधन का उपयोग करने से पहले बालक को मीनार तथा चौड़ी सीढ़ी बनाना आ जाना चाहिए। मीनारों के घन, चौड़ी सीढ़ियों के लंबघन और लंबी सीढ़ियों के डंडों को एक दरी पर एक कमरे के एक भाग में रख कर कमरे के दूसरे भाग में मीनारें, चौड़ी सीढ़ियां और लंबी सीढ़ियां बनाने का काम बालकों को आनंद देता है और उनकी शक्ति को विकसित करता है। इस खेल से बालक की मीनारें चौड़ी सीढ़ियां और लंबी सीढ़ियां बनाने की क्षमता का पता भी लग जाता है। यह खेल चार व पांच वर्ष के बालक के लिए है। लम्बी सीढ़ी की दोनों तरफ पगथिये बन जाएं, इस तरह से भी सीढ़ी बनाने की एक क्रीड़ा है। जब बालक का साधनों के साथ अच्छी तरह से परिचय हो जाए, तब उसे 'लंबा', 'छोटा' ये दो शब्द सिखाये जाने हैं। मीनार के घन से संबंधित जो शब्द सिखाने की विधि है वही विधि 'लंबा' और 'छोटा' शब्द सिखाने में काम में लानी है।

स्पर्श की तथा शीतोष्ण की इन्द्रियों के शिक्षण का काम परस्पर जुड़ा हुआ है। कारण यह है कि उष्णोदक स्नान तथा उष्णता स्पर्शेन्द्रिय को अधिक तीव्र बनाते हैं, अतएव स्पर्शेन्द्रिय को शिक्षित करने से पहले हाथों को गरम पानी से धुलवाने का नियम रखा गया है। एक लाभ और भी है इससे– बालकों में स्वच्छता का शौक जन्म लेता है और वे गंदे हाथों से चीजों को छूने से कतराते हैं। व्यवहार-शिक्षण में हाथ धोने, नख साफ करने संबंधी जो-जो काम रखे गए हैं वे सब स्पर्शेन्द्रिय-शिक्षण की पूर्व-तैयारी के बतौर समझे जाने चाहिए।

जिस तरह स्पर्श के लिए उंगलियों के सिरों को तैयार करने की जरूरत है, उसी तरह बालकों के हाथों को भी संस्कारित करने

की जरूरत है ताकि वे वस्तुओं की सतहों का नाजुक रीति से स्पर्श कर सकें। इसके लिए हमें बालक की उंगलियां अपने हाथ में लेकर वस्तु की सतहों पर अत्यन्त नाजुक रीति से फेरना चाहिए और इस तरह उन्हें यह अनुभव कराना चाहिए कि वस्तुओं की सतहों पर उंगलियां यों फेरनी चाहिए।

स्पर्शेन्द्रियों के विकास के लिए एक काम और करने बहुत आवश्यकता है और वह है बालक से आंखें बंद करवा कर सतह का स्पर्श करना। आंखें बंद करके अगर तुम स्पर्श करोगे तो तुम्हें बहुत आनंद मिलेगा—बालक से यों कह कर उसे मुंदी हुई आंखों से स्पर्श करने हेतु प्रोत्साहन दिया जाए। उसे तत्काल पता लग जाएगा कि बिना देखें भी वह चीजों की सतहों का अन्तर परख सकता है। यह ज्ञान मिलने पर उसके आनंद में अभिवृद्धि होगी। इस तरह की क्रीडा में आनंद आ जाने पर बालक अध्यापक के पास भागा-भागा आएगा और उसके हाथ की हथेली को और उसके कपड़ों को बंद आंखों से छुएगा। अगर स्पर्शेन्द्रिय का सही विकास हो चुका होगा तो बालक स्पर्श का उपयोग करने में आनंद का अनुभव करेगा। फिर तो तरह-तरह की नरम सतहों का स्पर्श करने में तथा उनमें विद्यमान अन्तर को परखने में बालक को बहुत प्रसन्नता होगी।

साधन

1. लकड़ी का लम्बा-चोकोर पट्टा। उसके ऊपर दो भाग करके एक भाग पर बहुत चिकना कागज चिपका दिया जाए अथवा उसकी आधी सतह को एकदम मृदुल बना दिया जाए और दूसरी आधी सतह पर रेगमाल का खुरदरा कागज चिपका दिया जाए।

2. लकड़ी का लंबा-चोकोर पट्टा । उस पर एक के बाद एक करके बारी-बारी से रेगमाल के कागज से लेकर अत्यन्त चिकने किस्म के कागज तक चिपके हुए हों। उसमें खुरदरेपन और चिकनेपन की तरफ ध्यान आकर्षित हो सके, ऐसा फर्क होना चाहिए।
3. लकड़ी के तख्ते या पुट्ठे पर खुरदरे रेगमाल से लेकर चिकने कागजों तक की तरह-तरह की कतरनें चिपकी हुई हों।
4. रेशम, मखमल, लिनन, सूती, ऊनी तरह-तरह के कपड़ों की कम से कम दो-दो लोरियां हों। ये कपड़े आकर्षक रंगों-डिजाइनों के हों।

इनके प्रयोग के बारे में जो वर्णन ऊपर गया है उसी का अनुकरण करने की जरूरत है।

साधन के उपयोग की विधि

साधन नं. 1 : पहले बालक के हाथ ठंडे पानी से साबुन लगाकर धुलवा दें और अच्छी तरह से पौंछा दें। फिर उंगलियों के सिरे गुनगुने पानी में थोड़ी देर के लिए डुबायें और रगड़ कर पौंछा दें। हाथ अच्छी तरह पौंछे जाएं, यह ध्यान रखना होगा। अब बालक के पौंचे को अपने हाथ में पकड़ कर उसकी उंगली के सिरे को बारी-बारी से चिकनी व खुरदरी सतह पर धीमे-धीमे नाजुक अन्दाज से फिरायें। उंगली फेरते समय शिक्षक बालक से कुछ न कहे। वह सिर्फ अवलोकन करता रहे कि बालक का ध्यान स्वत: भिन्न-भिन्न प्रकार की सतहों की ओर आकर्षित हो रहा है। वह उत्साहवर्द्धक शब्द या वाक्य बोलता रहे। जब बालक को चिकने और खुरदरे का अन्तर समझ में आ जाएगा तो वह अपने आप नाजुक रीति से पहले सीखे मुजब बार-बार उंगलियां फेरने लगेगा। बालक को यथा संभव इस बात के लिए

प्रेरित किया जाना चाहिए कि आंखें बंद करके वस्तुओं की सतहों पर हाथ फिराये। शुरू-शुरू में तो अगर वह आखें खुली रख कर ही उंगलियां फिरायेगा तो चलेगा। ज्यों ही हमें लगने लगे कि बालक को अब महसूस होने लगा है कि वह क्या कर रहा है, तभी हमें तत्काल उसकी उंगलियों को सतह पर फिराते-फिराते 'यह चिकना', 'यह खुरदरा'—यों बोलते जाना चाहिए। बार-बार एक ही सतह पर हाथ फिराते फिराते – 'चिकना, चिकना, चिकना' 'खुरदरा, खुरदरा, खुरदरा'—यों भी बोला जा सकता है। उच्चारण अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिए। आवाज आरोह-अवरोह युक्त हो पर निर्मल हो। बालक को भिन्न-भिन्न प्रकार की सतहों का अनुभव प्राप्त हो गया है या नहीं, यह बात शिक्षक को बालक के चेहरे पर विद्यमान प्रभावों से जानना भी जरूरी है। अगर बालक एकाग्रता से स्पर्श की प्रवृत्ति में संलग्न रहता है और तरह-तरह की सतहों पर हाथ फेरने से उसके चेहरे पर पृथक-पृथक भाव प्रकट होते हों तो समझ लेना चाहिए कि बालक को तरह-तरह के स्पर्शों का अन्तर समझ में आ गया है। शिक्षक को इस समय बहुत गौर से ध्यान की देने की जरूरत है। तदुपरांत बालक से यह पूछा जाए कि 'चिकनी सतह बताओ', 'खुरदरी सतह बताओ।' इसके बाद उससे प्रश्न यों किया जाए कि 'अमुक सतह कैसी है ?' और 'अमुक सतह कैसी है ?' इस प्रक्रिया के दौरान पहले बताये गए निर्देशों को ध्यान में रखना जरूरी है।

पहले नंबर का साधन काम में लाने के बाद नंबर 2 व 3 के साधनों का बालक अपने आप उपयोग करने लग जाएगा। ये दोनों साधन बालक की स्पर्शेन्द्रिय के विकास को पूर्णता प्रदान करने के लिए हैं। इसको काम में लाने के परिणाम स्वरूप सफाई से हाथ फेरने की कला में पूर्णता आती है, चिकनेपन और खुरदरेपन

का अन्तर समझ में आता है तथा इसमें और अधिक स्पष्टता आती है।

साधन नंबर 4 वाले कपड़ों की कतरनों का या टुकड़ों से निम्न खेल खेले जा सकते हैं।

खेल–1 : पहले बालक खुली आंखों से और फिर बंद आंखों से अपनी स्पर्शेन्द्रिय की मदद से कपड़ों के जोड़े बनाये और उन्हें समेट कर रखे। एक से अधिक बालक भी यह खेल खेल सकते हैं। इस खेल से सतह की समरूपता का ज्ञान समझ में आता है।

खेल–2 : बालक कपड़ों के टुकड़ों पर हाथ फेरे और अध्यापक उसे उस कपड़े का नाम बताये, यथा—मखमल, लिनन, सूती, रेशमी आदि। यहां वस्तु के अनुभव के साथ नाम भी जोड़ा जाता है। बालक पहले खुली आंखों से और बाद में आंखें बंद करके यह खेल खेले। तरह-तरह के कपड़ों की सतहें और उनके नाम बताने की क्रिया का यह प्रथम चरण हुआ, याने सेगुइन का प्रथम पद।

खेल–3 : इस तरह जब बालक को कपड़ों के नाम बता दिये जाएं तब शिक्षक नाम बोलता जाए और बालक हाथ फेर-फेर कर उस नाम का कपड़ा ढूंढ कर देता जाए—इस तरह का खेल खेलना चाहिए। पहले खुली आंखों से, फिर आंखें मूंद कर। यह खेल इसलिए है कि बालक के अनुभव के साथ संज्ञा जुड़ गयी या नहीं जुड़ी, याने यह सेगुइन का द्वितीय चरण हुआ।

खेल–4 : संज्ञा के ज्ञान की परख करने के लिए यह खेल खेलाया जाता है। बालक आंखों पर पट्टी बांधे और कपड़ों के ढेर से एक-एक टुकड़ा उठाता जाए और साथ ही साथ नाम बताता जाए। यह अंतिम खेल है।

शिक्षक बालकों को प्रत्येक खेल बताये और अन्दर ही अन्दर

खेल की व्यवस्था कर दे– इसी में वस्तुत: इन खेलों की सफलता निहित है। इन खेलों के पुनरावर्त्तन में स्पर्श के शिक्षण का अति सूक्ष्म विकास समाया हुआ है। यही, नहीं इन खेलों के द्वारा बालक अपने विशेष स्पर्श के ज्ञान से सामान्य ज्ञान की दिशा में आगे बढ़ता है।

शीतोष्ण इन्द्रियों का शिक्षण

साधन : कांच के प्याले और थर्मामीटर

साधनों की उपयोग-विधि

धातु के छोटे-छोटे प्यालों की दो कतारें बना लीजिए। प्याले एक ही तरह के हों। दोनों पंक्तियों में से एक-एक प्याले में एक समान तापक्रम का पानी भर दें। याने एक-से तापक्रम के दो-दो प्याले होंगे, पर सभी जोड़ों में अलग-अलग तापक्रम का पानी भरें। प्रामाणिकता के लिए प्रत्येक प्याले में थर्मामीटर रख दें। अब बालक से कहें कि उंगली डुबा कर देखे और एक जैसे तापक्रम के प्यालों के जोड़े बनाए। पानी की उष्मा जल्दी ही घट न जाये इसके लिए बर्तन बंद आकार का हो और उसमें थर्मामीटर रखा हुआ हो। इससे यह होगा कि बर्तन में पानी डालते ही उसकी गर्मी का पता लग जायगा। इस इन्द्रिय-शिक्षण को स्पर्शेंद्रिय के शिक्षण से पहले भी लिया जा सकता है।

स्टीरियोग्नोस्टिक सेंस का शिक्षण

[आंखों की सहायता लिये बिना रूप जानने की इन्द्रिय का शिक्षण]

इस इन्द्रिय के शिक्षण से बालक स्पर्श करते ही तत्काल पदार्थ की पहचान करना सीख जाता है। स्पर्श तथा स्नायुओं की पारस्परिक सहायता से यह शक्ति पैदा होती है। इस तरह के शिक्षण से छूते ही पदार्थों को पहचान जाने की बालक की शक्ति

विकसित हो जाने से उसके शिक्षण में अद्‌भुत विकास देखने में आता है। नीचे जो साधन बताये गये हैं, उनके अलावा भी तरह-तरह के खिलौने बालक को देकर पहचान कराई जा सकती है। बालक आंखें बंद करके चीजों को हाथ में लेते ही जोर से बोल उठते हैं : 'देखो, ये रही हमारी आंखें ! अब तो हम अपनी आंखों से ही देख सकते हैं।' इस तरह बालकों के विकास के लिए जो रास्ता बनाया गया है, उस रास्ते पर आगे बढ़ते-बढ़ते बालक हमें कई तरह के चमत्कार बताते हैं। बच्चे दुनिया में नयी-नयी खोजें करते जाते हैं पर हमें तो सौभाग्य से ही कभी-कभार देखने और आनंद लेने का मौका मिलता है।

साधन

1. फ्रॉबेल वाली लकड़ी की ईंटें और घन—कुल 24
2. छोटे-छोटे खिलौने; घर की छोटी-मोटी चीजें, अनाजों के दाने यथा–गेहूं, चावल, मूंग, मोठ आदि।

साधनों की उपयोग-विधि

साधन नं. 1 : प्रयोग में लाते समय दोनों प्रकार की घनाकृतियों की तरफ बालक का ध्यान खींचा जाए। इनको हाथ लेकर बच्चे अच्छी तरह से अवलोकन एवं जांच-पड़ताल कर सकें, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए। बालकों का ध्यान इनकी तरफ अच्छी तरह से आकृष्ट हो सके, इसके लिए आकृतियों के वर्णन के बतौर कुछ न कुछ बोलना चाहिए। तदुपरांत आकृतियों की तरफ देखे बिना उनको छू-छूकर ईंटें एक तरफ और घन एक तरफ रखने के लिए बालक को निर्देशित किया जाए। फिर बालक की आंखों पर पट्टी बांधकर बालक से कहा जाए कि घनों और ईंटों को अलग-अलग कर दे। नन्हें बालकों को इस खेल में बहुत मजा आता है। चीजों को हाथ लगाते ही बालक उन्हें लगभग पहचान जाते हैं। उस

समय उन्हें ऐसा लगता है जैसे उनकी अपनी उंगलियां नहीं देखती हों। इस खेल के समय पास खड़े दर्शक मुग्ध बन जाते हैं और आश्चर्यपूर्वक बालकों के काम को देखते रह जाते हैं। आतुर भाव से पास खड़े बालक यह सब देख कर बहुत उत्साहित अनुभव करते हैं।

साधन नं. 2 : अन्य साधनों से भी आंखों पर पट्टी बांध कर खेला जा सकता है, जैसे—चीजों के ढेर में से उन्हें वर्गीकृत करना या पहचान कर अलग-अलग करना। ऐसे खेल से बालक की स्मृति विकसित होती है। ऐसे में अगर कोई अनदेखा-अनजान पदार्थ भी बालक के हाथ में आ जाता है तो वह उसे भी तत्काल याद रह जाता है।

आंख स्पर्श व स्नायुओं के शिक्षण की योजना

साधन : एक के ऊपर एक रखी छह खानों की पेटी।

पेटी के इन खानों को जब खोला जाता है तो प्रत्येक में लकड़ी के बने छह चोकठे देखने में आते हैं। इन सभी चोकठों में बड़े आकार की भौमितिक आकृतियां बिठाई हुई होती हैं। प्रत्येक आकृति को उठाने के लिए उस पर पकड़ने की एक घुंडी, बटन या टोपी लगी होती है। चोकठा गुलाबी रंग में रंगा होता है और आकृति नीले रंग की होती है। प्रत्येक खाने के तले में नीले रंग का कागज चिपका होता है, अतः जब चोकठे में से आकृति बाहर निकाली जाती है तब खाने के तले में उस आकृति के जैसी ही भौमितिक आकृति उस नीले कागज की वजह से दिखाई देती है।

पेटी के खानों में आकारों के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए भौमितिक आकृतियां जमाई हुई होती हैं। उसका क्रम निम्न प्रकार से होता है :

1. एक खाने में छह वर्तुल होते हैं। ये वर्तुल एक-समान व्यास के नहीं होते, अपितु क्रमशः घटते हुए व्यास के होते हैं।
2. दूसरे खाने में एक चोरस या चोकोर आकृति होती है और पांच लंब-चोरस होते हैं। प्रत्येक लंब-चोरस की लंबाई उसकी भुजा के जितनी ही है, पर उसकी चौड़ाई क्रमशः घटती जाती है।
3. तीसरे खाने में छह त्रिकोण हैं, जो अपनी भुजाओं अथवा कोणों की असमानता की वजह से आपस में भिन्न-भिन्न आकार के हैं—सम बाहु, समद्वि बाहु, विषम बाहु, समकोण त्रिभुज, अधिकोण त्रिभुज, न्यूनकोण त्रिभुज।
4. चौथे खाने में समबाहु आकृतियां हैं। इसमें पांच भुजाओं से लेकर दस भुजाओं तक की आकृतियां हैं। इन आकृतियों के नाम हैं—पंचकोण, षटकोण, अष्टकोण, नवकोण और दशकोण।
5. पांचवें खाने में तरह-तरह की आकृतियां हैं। ये आकृतियां है–अंडाकार, लंब गोलाकार, रोम्बस, समान्तर-बाहु चतुष्कोण, तथा ट्रेपेजोइड।
6. छठे खाने में अनियमित ज्यॉमितिक आकृतियां हैं तथा बाकी की चार सादी लकड़ी की तख्तियां हैं। इस तख्तियों पर घुंडियां नहीं लगी होतीं।

इस पेटी के साथ एक और अतिरिक्त लकड़ी का खाना आता है। इसके साथ फ्रेम जड़ा हुआ होता है। आकृतियों को खाने में डाल कर इस फ्रेम को बंद करने से आकृतियां अलग-अलग बिखरती नहीं। यह फ्रेम वाला खाना शुरुआत में बालक को आकृतियों का परिचय देते समय बहुत काम का है।

साधन को उपयोग में लाने की विधि

तमाम आकृतियों में से शिक्षक जो भी आकृतियां अनुकूल लगें उन्हीं को प्रथम पाठ के लिए चुन ले। इस चयन में शिक्षक को अपना विवेक काम में लाना है। शुरुआत में उसे बालक के सामने थोड़ी-सी ही आकृतियां प्रयोग में लानी हैं– ये आकृतियां एक-दूसरे से भिन्न आकार की हों, बाद में उनसे अधिक मेल रखने वाली आकृतियां सामने रखी जाएं।

उदाहरण के लिए, शुरू-शुरू में खाने में भरने के लिए वर्तुल या त्रिकोण प्रयुक्त किये जाएं या फिर वर्तुल, त्रिकोण और चतुष्कोण लिये जाएं। खाली स्थान को लकड़ी की सादी तख्तियों से भर दें। तदुपरांत धीमे-धीमे विलोम-विपरीत आकार-प्रकार की आकृतियों को जोड़ते-मिलाते हुए पूरा खाना विपरीत आकृतियों से भर दें। ये आकृतियां कुछ इस तरह के आकार की होनी चाहिए–चतुष्कोण, बहुत संकरा लम्ब-चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल, लम्ब-गोल तथा षट्कोण।

इसके पश्चात् एक ही जाति की, लेकिन भिन्न-भिन्न ऊंचाई की आकृतियां प्रत्येक खाने में रख कर बालक के पास रखी जाएं, यथा गोल, छह त्रिकोण, छह लम्ब-चतुष्कोण आदि।

इस उपकरण को उपयोग में लाने की विधि गट्टा-पेटियां काम में लाने की विधि से मिलती-जुलती है। पहले आकृतियों को ऊपर वाला बटन पकड़ कर खानों से बाहर निकाला जाए और टेबिल पर उनको परस्पर मिला दिया जाए। अब बालक से कहा जाए कि वह आकृतियों को उनके चोकठे में भर दे।

शुरुआत में बहुत से बालक बहुत प्रयत्न करके ही आकृतियों को उनके सही खानों में भर पाते हैं। उदाहरणार्थ वे त्रिकोण को विषम चतुष्कोण (ट्रेपेजोइड) के खाने में या लम्ब-चतुष्कोण के

खाने में भरने का प्रयत्न करने के बाद ही सही खाने में भरना सीखते हैं। कई बार बालक लंब-चतुष्कोण को उसके खाने में भरने के लिए उठता है, वह जानता है कि लंब-चतुष्कोण को किस खाने में डाला जाना है, पर वह उसे लम्बी भुजा की तरफ से डालने की बजाय आडी तरफ से खाने में भरने लगता है और बहुत समय तक कोशिश करने के बाद ही सही रीति ढूंढ़ पाता है। वह चार-पांच बार इसी तरह कोशिश करता है, इतने में खानों में आकृतियां डालना उसे आ जाता है, और फिर तो उसे अपने मन ही मन हंसी आने लगती है कि इतना आसान काम भी उससे नहीं हो सका ! इस प्रकार प्रयोगों व प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप बालक सफलता प्राप्त करता है। जब गलत खाने में कोई आकृति न आ सके तो अलग-अलग आकृतियों की समानता की तरफ बालक का ध्यान आर्कषित किया जाए। मोटे तौर पर बालक का ध्यान इस ओर खींचा जाता है कि दोनों के बीच फर्क है। शुरुआती कामों में बालक सफलता प्राप्त करता है पर आगे चल कर उसे क्रमश: बढ़-चढ़ कर अगले क्रम की आकृतियां खानों में डालनी पड़ती हैं। इस तरह बालक आकारों को पहचानने के लिए अपनी आंखों का शिक्षण करता है। यह साधन बालक को अपने आप अपनी त्रुटि सुधारने का अवसर देता है, क्योंकि जब तक बालक आकृति को उसके खाने में नहीं डाल पाता तब तक वह आकृति खाने से बाहर ही रहती है।

सादी आकृतियों से वे बालक भी खेल सकते हैं जो तीन वर्ष से कम उम्र के होते हैं। इस खेल से भी लंबे समय तक बालक का ध्यान लगा रहता है। हालांकि उतनी देर तक तो नहीं, जितनी देर तक गट्टे-पेटी बालक को रोके रखती है। डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि किसी बालक को पांच या छह बार से अधिक इन

आकृतियों से खेलते नहीं देखा गया। बालक को इसमें अपनी शक्ति को बहुत रोकना पड़ता है—उसे आकारों की पहचान करनी पड़ती है और खानों में डालने के लिए उन्हें तलाशना पड़ता है।

जब शुरुआत में बालक परस्पर विरुद्ध आकृतियों को उनके खानों में डालने में संलग्न रहता है तब उसे आकृतियां पहचानने में एक नयी मदद दी जाती है और यह मदद है स्पर्श एवं स्नायुओं की। दायें हाथ की बिचली व तर्जनी उंगली के सिरों से बालक को ज्यॉमितिक आकृतियों के चारों ओर स्पर्श करना सिखाया जाता है। जो बालक दोनों हाथों को दक्ष बनाना चाहते हैं वे दोनों हाथों उंगलियां प्रयोग में ला सकते हैं। पहले बालक आकृति के किनारों का स्पर्श करे और फिर खाने के किनारे-किनारे चारों और उंगली फेरे। बाद में ही वह आकृति को खाने में डाले। बालक की यह आदत बहुत आसानी से पड़ जाती है, क्योंकि उसे चीजों को छूने में बहुत आनंद मिलता है।

डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि मंदबुद्धि बालकों को शिक्षा देते समय इसका ऐसा अनुभव रहा है कि इन्द्रियों की स्मरण शक्ति में स्नायुओं की स्मरण-शक्ति अधिक सजग है। बहुत सारे बालक चीजों को देख कर पहचान नहीं सकते, पर छूते ही पहचान जाते हैं। भूमिति की आकृतियों को खाने में डालते समय बालक उलझ जाते हैं, चक्कर खा जाते हैं, लेकिन तभी ज्योंही वे आकृतियों की दो भुजाओं को उंगलियों से छूते हैं त्योंही उन्हें आकृति का पूरा ज्ञान हो जाता है। इतना बेशक सही है कि ज्योंही स्नायु एवं स्पर्श की इन्द्रिय दृश्येन्द्रिय के साथ सहयोग करती है त्योंही बालक को आकार का ज्ञान आश्चर्यजनक रीति से पहले हो जाता है और वह आकार दृढ़ता से उसकी स्मृति में दर्ज हो जाता है। भौमितिक आकृतियां और उनके खाने भी उंगलियां फेरते समय बालक की

त्रुटि को सुधारने का काम करते हैं। याने ये साधन स्वत: भूल संशोधन कराते हैं। बालक अपनी उंगलियां फेरते फेरते टेढ़ा-मेढ़ा चला जाता है तो ये आकृति के किनारे तत्काल उसे सजग कर देते हैं। किस तरह आकृति को पकड़ा जाए, किस तरह उंगलियां रखी जाएं और किस तरह उंगलियों को आकृतियों के चारों ओर फेरा जाए, ये सारी बातें शिक्षक को शुरू में ही बालक को गौर से समझा देनी चाहिए। क्योंकि इसी विधि का उपयोग बालक को आगे चलकर करना पड़ता है। शिक्षक को बहुत धीमे-धीमे और स्पष्टता से आकृति के किनारों का स्पर्श करने की क्रिया बालक के समक्ष करके बतानी है। यही नहीं, अपितु उसे बालक का हाथ पकड़ कर उसकी उंगलियों को आकृतियों पर इस तरह से फेरना है कि बालक आकृतियों की भुजाओं और कोणों को भली भांति जान जाए। जब बराबर इसी विधि से सावधानी पूर्वक बालक को भौमितिक आकृतियों के चारों ओर उंगलियां फिराना आ जाएगा, तभी उनका स्पर्श करना सार्थक होगा। इस विधि से कितनी ही बार आकृति का स्पर्श करने से बालक में आकृति का वास्तविक स्वरूप पैदा होने की शक्ति विकसित हो जाती है।

अंगुलियां फेरने के इस अभ्यास में न्यूनाधिक रूप से चित्रकला की सही तैयारी आ जाती है। किसी भी मर्यादित आकृति के चारों ओर पेंसिल फेर कर आकृति निर्मित करने की शक्ति यहीं विकसित होती है। बालक का छोटा-सा हाथ जो आकृतियों के किनारों का स्पर्श करता है, और यह जानता है कि आकृतियों के किनारों का स्पर्श कैसे किया जाए, वह अनजाने में ही लिखना शुरू कर देता है। बालक बहुत सावधानी से इन सादी आकृतियों को छूते हैं। यह काम उन्हें पसन्द आता है। आंखें मूंद कर या आंखों पर पट्टी बांध कर मात्र स्पर्श से आकृतियों को उसके खानों में डालने की क्रीड़ा बालकों ने ही तो ढूंढ कर निकाली है।

साधन नं. 2 : कार्ड बोर्ड की तीन पेटियां होती हैं। इनमें लकड़ी के भौमितिक चोकठों जैसे ही कागज के चोकोर सफेद कार्ड रखे होते हैं। तीनों पेटियों में अलग-अलग आकार के कार्ड होते हैं। पहले प्रकार के चोकोर कार्डों पर लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृतियों जैसी ही नीले कागज से काट कर निकाली हुई आकृतियां चिपकाई हुई होती है; दूसरे प्रकार के कार्डों पर लकड़ी की भौमितिक आकृतियों जैसी ही नीले कागज से काट कर बनाई हुई ज्यॉमितिक रेखाकृतियां (मोटी रेखा में) चिपकाई हुई होती है और तीसरे प्रकार के कार्डों पर मात्र महीन रेखाओं में बनाई हुई ज्यॉमितिक आकृतियां होती है।

साधनों की उपयोग विधि

प्रथम श्रेणी : बालकों को पहली पेटी वाले नीली आकृति चिपकाए हुए कार्ड तथा लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृतियां दी जाएं। इन कार्डों को बालक टेबिल पर एक पंक्ति में जमा दें। ऐसा करना जरूरी है। इसके बाद बालक कार्डों पर चिपकाई नीली आकृतियों पर उनके जैसी लकड़ी की आकृतियां रखें। यहाँ बालक को खाने में आकृति नहीं रखनी अपितु कार्ड पर चिपकाई आकृति पर आकृति रखने की है। खाने में आकृति रखते समय खाना स्वयं बालक की त्रुटि सुधारने में मददगार था लेकिन यहां वैसी बात नहीं है। यहां तो बालक की आँख को सावधानी पूर्वक देखना पड़ता है। पहले भूल को सुधारने का आधार आँख में है। बालक को लकड़ी की आकृति कार्ड वाली आकृति पर बिल्कुल सही-सही जमानी है ताकि नीचे वाली आकृति नजर ही न आए। आकृति रखते समय बालक को पहले कार्ड वाली आकृति के चारों ओर उंगली फिरानी है और बाद में उसके ऊपर रखी हुई आकृति के चारों ओर उंगली फिरानी है। इस तरह के अभ्यास से आंखों

को प्लेन–सादा आकार पहचानने का शिक्षण मिलता है। इस प्रकार जब बालक एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में और दूसरी से तीसरी में जाता है तो उसकी आंखों का अच्छा-खासा विकास हो जाता है। प्रत्येक श्रेणी से गुजरते हुए बालक का विकास बढ़ता ही जाता है। जब बालक तीसरी श्रेणी पार कर जाता है तब वह लकड़ी की ज्यॉमितिक आकृति और कार्ड पर खिंची रेखा की आकृति के बीच के संबंध को जान जाता है याने वह स्थूल तथा सूक्ष्म के बीच के संबंध को मिला सकता है, उसे देख सकता है। इस समय वह रेखा के वास्तविक अर्थ को समझ जाता है, तथा तभी से सादी रेखा से बने आकारों को पहचानना और उनका अर्थ ढूंढना जान जाता है।

द्वितीय श्रेणी : बालक को इस श्रेणी में दूसरे नंबर की पेटी तथा भौमितिक आकृतियां दी जाती हैं। बालक को उपर्युक्त रीति से उसका उपयोग करना चाहिए। इस अभ्यास से बालक स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाता है। पहले वह लकड़ी की केवल स्थूल आकृतियां ही उपयोग में लाता था और उन्हीं को पहचानता था। फिर उस सतह वाली आकृतियों में स्थूल आकृति की स्थूलता नहीं दिख पाती। यह क्रिया प्रथम श्रेणी में पूरी हो जाती है। अब वह सपाट आकृतियों में रेखाओं वाली आकृतियों की तरफ आता है, हालांकि अभी ये रेखाओं वाली आकृतियां स्थूल आकृति की रेखा मात्र ही नहीं बताती, ये आकृतियाँ तो, जब बालक स्वयं उंगली को स्थूल आकृति के किनारे-किनारे चारों तरफ फिरा रहा था, तब उसे जिस मोटे मार्ग का अनुभव हो रहा था, उसे बता रही है। जब बालक इस श्रेणी की ऊपर वाली आकृतियों पर अपनी उंगलियां फिराता है तब उसे ऐसा ही अनुभव होता है। जिस तरह की लीक वह स्थूल आकृतियों के ऊपर अपनी उंगलियों से बना रहा था वैसी ही लीक वह उस कार्ड पर

चिपकाई आकृतियों पर उंगलियां फिराते हुए अनुभव करता है। इस लम्बी मीमांसा का संक्षिप्त अर्थ इतना ही है कि बालक इस द्वितीय श्रेणी में स्थूल अकृति से सूक्ष्म आकृति की दिशा में अधिक से अधिक प्रवृत्त हो।

तृतीय श्रेणी : बालक को तीसरे नम्बर को पेटी और उससे संबंधित ज्यॉमितिक आकृतियां दी जाएं। बालक उपर्युक्त ढंग से खेलने लगेगा। यहां उसके सामने रेखा की आकृति आएगी। वह अब आकृति और रेखा का फर्क समझने लगेगा। आकृतियां किस तरह से रेखा के आकार में दर्शाई जा सकती हैं, इसके बारे में वह अनुमान लगाने लगेगा।

उक्त श्रेणियों से बालक अनेक खेल खेलेंगे। वे तरह-तरह के खेल स्वयं ढूंढ निकालते हैं। कुछ खेल इस प्रकार हैं।

1. बालक बहुत सारी आकृतियों को अपने सामने सजाते हैं। फिर उन कार्डों को अपने हाथ में लेते हैं जिन पर आकृतियाँ चिपकी हुई हैं और कार्डों को ताश के पत्तों की तरह फेंटते हैं। इसके बाद सामने रखी आकृतियों में उनके जैसी आकृतियों वाले कार्ड बाँट देते हैं। फिर यह देखने के लिए कि वे सही ढंग से बाँटे गए हैं अथवा नहीं। वे आकृति के नीचे बाँटे हुए कार्ड रख देते हैं। इस तरह एक आकृति के नीचे तीन-तीन कार्ड दिखाई देते हैं। यह मजेदार खेल है।

2. बालक सारे कार्डों को पेटी से बाहर निकालें और उन्हें दो-तीन टेबिलों पर कतार-बंद जमा दें। ध्यान रहे पहली पंक्ति प्रथम पेटी के कार्डों की हो, उसके नीचे दूसरी पेटी के कार्ड हों, और उसके नीचे तीसरी पेटी के कार्ड हों। बालक भौमितिक आकृति को लेकर उनसे संबंधित कार्ड पर उसे रखते जाएं। दो-चार बालक खेल रहे हों तो एक बालक पहली पेटी के कार्ड पर आकृति

रखेगा। दूसरा बालक उसी आकृति को लेकर दूसरी पेटी के कार्ड पर रखेगा। इस तरह खेल चलेगा। देखने में यह खेल शतरंज जैसा दिखाई देगा।

3. एक और भी खेल खेला जा सकता है। भौमितिक आकृतियों को एक साथ एकत्रित कर लिया जाए, या फिर भले ही उन्हें पेटी में ही रहने दें। ताश की तरह कार्डों को फेंट कर खेलने वाले बालकों को कार्ड देने के बाद उन कार्डों के अनुसार पेटी या गल्ले से वे भौमितिक आकृतियाँ निकालें और संबंधित कार्डों के पास जमा दें। इस तरह के कई खेल बालक खेल सकते हैं।

यह सब जान लेने के पश्चात् बालक को भौमितिक आकारों के नाम सिखाये जाते हैं। दुरूह नाम भी बालक उत्साह से सीख जाते है, जैसे ट्रेपेजिम, दशकोणाकृति आदि। इस उम्र में बालक अपनी भाषा का विकास करता है, अतः अगर उसे शब्द सीखने में मजा आता है, तो यह स्वभाविक ही है। इस समय उसे शुद्ध भाषा का उच्चारण सुनना बहुत अच्छा लगता है। अगर बालक भौमितिक आकृतियों के जटिल नाम सीखता चाहें तो उन्हें सिखाने में कोई बाधा नहीं है।

जब बालक को भौमितिक आकारों का अच्छा-खास ज्ञान हो जाता है तो वह अपने आसपास की परिस्थिति में प्राप्त होने वाले ज्ञान को व्यक्त करने लगता है। यह संसार उसे जीवन्त लगने लगता है। जिधर नजर डाले उधर उसे रूप व रंग दिखाई देता है और वह उन्हें पहचानने लगता है। कहने का आशय यह है कि उसके जीवन के आनंद में कुछ अभिवृद्धि ही होती है।

एक बार एक गृहस्थ शाला के नन्हें बालकों को खिलाने के लिए तरह-तरह की ज्यॉमितिक आकृति के बिस्किट लेकर आया। उसने सोचा था कि बिस्किट मिलते हो बच्चे उन्हें फटाफट खा

जाएंगे। लेकिन बालक उन बिस्किटों के आकार देखने लग गए। कोई बोला : 'मुझे त्रिकोण मिला है।' कोई बोला : 'मेरे हिस्से वर्तुल आया है।' तो किसी ने कहा : 'मेरे पास तो लंब-चतुष्कोण है।'

एक बार एक माता खाने का व्यंजन बना रही थी। पास ही उसका बेटा बैठा था। माता ने ज्यों ही ब्रेड निकाली और उसके ऊपर का कागज हटाया कि बालक तत्काल बोल उठा : 'यह तो लंब चोरस है।' जब माता ने उसे बीच से तिरछा काटा तो बालक बोल उठा : 'यह तो त्रिकोण है।' उस टुकड़े को जब मां ने बेसन में साल कर तवे पर तलने डाला और उसका आकार बदल गया तो बालक बोल उठा : 'यह तो ट्रेपेजियम बन गया।'

उस बालक का पिता एक मजदूर था। बालक की हरकत को देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वह शिक्षक के पास गया और उसने बालक के साथ घटित प्रसंग का कारण पूछा। जब शिक्षक ने उसे सारी बात बताई तो मजदूर ने अत्यन्त आवेश में कहा : 'अगर मुझको किसी ने इसी तरह सिखाया होता तो मैं एक मजदूर न होता।'

उस दिन से वह मजदूर शिशु-शाला में बहुत रुचि लेने लगा। धीरे-धीरे उसने सभी मजदूरों को शाला की तरह आकर्षित किया। उन्होंने अंत में उसे एक मान-पत्र दिया। जिस पर बालकों के तथा इधर-उधर तरह-तरह की ज्यॉमितिक आकृतियों के चित्र थे। स्वयं मजदूरों ने वह डिजाइन तैयार की थी।

रंग की इन्द्रिय का शिक्षण

साधन : रंग की तख्तियों की दो पेटियां

वर्णन

ये दो पेटियां लकड़ी की हैं। प्रत्येक पेटी में आठ-आठ खाने

हैं और प्रत्येक खाने में रंग की आठ-आठ तख्तियां हैं । कुल मिला कर एक पेटी में चौसठ और दोनों में कुल 128 तख्तियां हैं । जैसी तख्तियां पहली पेटी में, वैसी ही दूसरी में हैं ।

ये तख्तियां* आठ मुख्य रंगों की हैं और प्रत्येक के सात-सात छाया रंग हैं : मुख्य रंग ये हैं : लाल, नारंगी, पीला, नीला, आसमानी, जामनी, भूरा और काला ।

पेटी के प्रत्येक खाने में मूल रंग की एक तख्ती है और सात तख्तियां उसके छाया रंग की हैं । ये तख्तियां लकड़ी की हैं । बीच में रंगीन रेशम या ऊन जड़ा है और दोनों तरफ लकड़ी की चोखट लगी है । अंग्रेजी में इसे 'कलर्स स्पूल' कहा जाता है ।

साधन के उपयोग की विधि

प्रथम श्रेणी : प्रारंभिक कार्य में नितांत छोटे बालकों के लिए मुख्य रंग की आठ तख्तियों में से प्रत्येक पेटी से मूल रंग की तीन तख्तियां लें । ये तख्तियां लाल, आसमानी और पीली हों । कारण यह है कि रंग एक दूसरे के विरोधी हों । इस तरह दो लाल, दो आसमानी और दो पीली मिलकर रंग की छह तख्तियां हो जाएंगी । अब खेल शुरू किया जाए ।

छहों तख्तियां एक टेबिल पर रख दें । शिक्षक रंग की एक तख्ती उठा कर बालक को दिखाए । अब शिक्षक बालक से उसी रंग की दूसरी तख्ती लाने को कहे । मंगाई हुई तख्ती बालक लाकर दे सके, इसके लिए हाथ वाली तख्ती को पास-पास रखकर मिलान करें और करने दें । इस तरह तीनों रंग के जोड़े बना लें या बनवा लें ।

* नए परिवर्तन के अनुसार कुल नौ रंग और प्रत्येक के सात सात रंग हैं । अतः ऐसी ही पेटियां बनवा कर उपयोग में लाई जाएं । प्रयोग में लाने की विधि में कोई अन्तर नहीं है ।

उक्त क्रिया से तीनों रंगों की समानता करना सीख जाने के बाद हमें ऐसा कदम उठाना चाहिए ताकि बालक आठों मूल रंगों की समानता करना सीख सके । फिर एक के बाद एक मूल रंग की दो-दो तख्तियां लेकर पहले दो, फिर चार, फिर छह—यों दो-दो बढ़ानी तथा उनकी जोड़ियां बनानी । इस तरह आठों मूल रंगों की कुल सोलह तख्तियाँ टेबिल पर आ जानी चाहिए और आठ जोड़े बन जाने चाहिए ।

जब उक्त ढंग से बालक को मूल रंगों की तुलना करना आ जाएगा तो फिर वे उनसे लंबे समय तक खेल खेल सकेंगे । रंगों का वास्तविक शिक्षण तख्तियों के बार-बार प्रयोग में निहित है । मुख्य रंग की समानता पहचान कर जोड़े बनाने की क्षमता आ जाने के पश्चात् उन रंगों से क्रमशः हल्के छाया-रंगों का ज्ञान उपर्युक्त विधि से आजमाया जाये । इसके लिए तुलना करने और जोड़े बनाने की क्रिया साधने की जरूरत है ।

उदाहरणार्थ पहले एक पेटी से मूल रंगों से क्रमशः हल्के पहले दर्जे के तीन छाया रंग और दूसरी पेटी में से वैसे ही तीन छाया रंग निकाले जाएं और उपर्युक्त विधि से उनके जोड़े बनवाये जाएं । इसके बाद दो-दो छाया-रंग बढ़ाते जाएं । इस तरह अंत में सोलह के सोलह छाया-रंगों के सात जोड़े बनाना सिखाया जाए । इस तरह से एक-एक करके आठों छाया-रंगों का ज्ञान कराया जाए ।

बालक की शक्ति के अनुरूप अगले रंगों को नये छाया-रंगों के साथ मिलाया जाए अथवा नहीं, इस बात का निर्णय शिक्षक स्वयं करे । यों करने से बालक को सभी एक सौ अठाईस रंगों के जोड़े बनाना आ जाएगा ।

द्वितीय श्रेणी : जब बालक को उपर्यक्त विधि से सभी रंगों

की समता करना आ जाता है, तब रंगों का क्रम सिखाने की बारी आती है । यह काम यों करने का है ।

पहले एक ही मूल रंग की, लेकिन उससे भिन्न-भिन्न समीपस्थ छाया रंगों की दो या तीन तख्तियां लेकर बालक को बताएँ और फिर उन्हें रंगों की छाया के क्रम में बालक के सामने रखें । रंगों की भिन्नता के विचार को बालक बिल्कुल सही-सही समझ सके इसके लिए उसको इन तख्तियों के साथ पर्याप्त समय तक खेलने दिया जाए । फिर तो छाया-रंगों को क्रमश: बढ़ाते-बढ़ाते एक मूल रंग को पूरी तरह जान लिया जाए । जब तक एक मूल रंग के सभी छाया रंगों को क्रम से सजाना बालक को न आ जाए तब तक दूसरा रंग न लिया जाए । इसके उपरान्त दूसरा रंग लिया जाए और बालक को उसे सजाने का परिचय दिया जाए । तब तीसरे, चौथे, पांचवें, यों करते-करते आठों मूल रंगों का और उनके छाया रंगों का ज्ञान बालक को हो जाएगा । इतनी क्षमता अर्जित करने में काफी समय चला जाता है । इतनी क्षमता के बाद तो बालक नवें मूल रंग को क्रम से सजाना अपने आप सीख जाता है ।

तृतीय श्रेणी : जब बालक को मूल रंगों का ज्ञान हो जाए तथा प्रत्येक मूल रंग के छाया रंगों को उसे क्रम से सजाना आ जाए तब बालक को आगे का ज्ञान देना चाहिए ।

दो मूल रंगों और उनके छाया रंगों (लाल, आसमानी) को मिला दें और फिर उन्हें एक दूसरे से अलग करके वापिस छाया के क्रम में सजाने का खेल खेलाया जाए । इस प्रकार दो रंगों में तीसरा रंग डालें, फिर चौथा रंग डालें और इस तरह खेल को आगे चलाया जाए । यों करते-करते आठों रंगों और इनके छाया रंगों का एक ढेर लगा कर उनमें से मुख्य और छाया रंगों को अलग करें और फिर से प्रत्येक मुख्य रंग के छाया रंगों को क्रम

से सजायें । इस प्रकार लंबे समय तक मनोरंजक खेल चलायाजाए ।

जब बालक की रंग की शक्ति पूरी तरह से विकसित हो जाएगी तब बालक दोनों पेटियों याने 128 तख्तियों को इकट्ठी करके प्रत्येक पेटी के चोसठ-चोसठ रंग अलग कर देगा और फिर प्रत्येक पेटी के चोसठ रंगों की आठ ढेरी बना कर प्रत्येक ढेरी के छाया रंगों का क्रम सजा देगा और पेटी को वैसा का वैसा सजा देगा जैसी वह थी ।

इन तख्तियों से कुछ और खेल भी खेले जा सकते हैं । एक, दो या तीन बालक टेबिल पर बैठे हुए हों तो वहां उनके पास दो या तीन रंगों की (छाया रगों के साथ) ढेरी रखी जाए और प्रत्येक बालक को अपने-अपने रंग पसंद कर दिये जाएं । बालक जब रंग पसन्द कर लें तो तीनों ढेरियों को परस्पर मिला दें और तब उनसे कहा जाए कि अपनी-अपनी पसन्द के रंग ढूंढ़ कर निकालें और उन्हें यथाक्रम सजायें । इस खेल में बालकों को बहुत मजा आएगा ।

दूसरी क्रीड़ा ऐसी है कि बालक रंगों को इकट्ठा करें और आठ ढेरियां बनायें । फिर से उन्हें क्रम में सजायें और एक छोटी-सी दरी जैसा बनायें ।

चौथी श्रेणी : यह श्रेणी रंग की स्मरण-शक्ति विकसित करने के लिए है । किसी दूर रखे टेबिल पर रंग की तख्तियां रख दें । फिर एक तख्ती को लेकर बालक से कहा जाय कि वह उसके सामने देखे । फिर बालक को दूर पड़ी तख्तियों में से उस देखी हुई तख्ती के रंग जैसी तख्ती ढूंढ़ कर लाने को कहा जाए । बालक को इस काम में खूब मजा आएगा । बालक उस रंग को अपनी आंखों में भर कर टेबिल के पास जाएगा और जब तक सही रंग नहीं मिल जाएगा तब तक तलाश करेगा । इस पूरे वक्त बालक की रंग की स्मरण-शक्ति विकसित होने का अवसर मिलेगा । जब

बालक रंग की छवि को अपने नेत्रों में भर कर उस जैसी स्थूल छवि को आसपास के वातावरण में तलाशने लगता है तब उसे बहुत आनन्द मिलता है। वजह यह है कि इस खेल में उसे अपनी मानसिक शक्ति के नए बल का खयाल आता है। वह जानता है कि रंग को वह अपने आसपास की स्थूल सृष्टि से किस तरह तलाश कर सकता है।

दो-एक और बातें अप्रासंगिक नहीं होंगी। छाया रंगों की क्रमिकता को जानने का काम मुश्किल है। यह काम लम्बे मुहावरे के बाद ही वश में आता है। बालक को इस काम में मदद देने के लिए दो-एक सूचनाएं देने से अधिक करने की जरूरत नहीं है। एक सूचना यह है कि पहले प्रगाढ़ रंगों का चयन करके धीमे-धीमे हल्के रंगों को क्रम से सजाने की ओर ध्यान देने की जरूरत है। जिस समय बालक क्रमिकता के काम में लगा हुआ हो उस समय बार-बार उसका ध्यान पास-पास रखे रंगों की तुलना करने और उसे देखने की क्रिया की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए।

कर्णेन्द्रियों का शिक्षण

साधन

डॉ. मोंटेसरी ने कर्णेन्द्रियों के शिक्षण के लिए जो साधन तय किये हैं उसमें आवाज करने वाली डिबियां और घंटियां मुख्य हैं। साथ ही इन्होंने कर्णेन्द्रियों के शिक्षण और संगीत-शिक्षण को प्रोत्साहन देने वाली योजना भी संयोजित की है। यह योजना है शांति की क्रीड़ा। घंटियों का अधिक उपयोग संगीत के शिक्षण में किया जाता है, इसलिए उनके बारे में यहां वर्णन करना जरूरी प्रतीत नहीं होता।

प्रथम साधन

पहले आवाज करने वाली डिबियों को लें। इनकी संख्या

छह है। ये नलाकार या गट्टाकार कार्ड बोर्ड की बनाई हुई हैं। या तो इनको बन्द कर दिया जाता है या इन पर लकड़ी के ढक्कन लगे होते हैं। इन डिबियों में अलग-अलग-तरह की छोटी-छोटी से लेकर बड़ी-बड़ी चीजें भरी जाती हैं, जैसे—बारीक रेत, मटर के दाने····आदि। तीन पेटियों का एक सैट और छह पेटियों के दो सैट।

साधन के उपयोग की विधि

बालक कान के आगे एक पेटी को हिलाएगा। उससे जैसी आवाज निकलती है उससे साम्य रखने वाली आवाज करने वाली पेटी शेष पांच पेटियों में से ढूंढ़ कर निकालेगा और एक जोड़ी बनाएगा। इस तरह तीन जोड़ियां बन सकती हैं। जिस तरह से ऊपर रंगों के प्रसंग में तुलना करने की विधि अपनाई गई है वैसी ही तुलना इन पेटियों को लेकर की जाएगी। इस तरह एक-समान आवाज ढूंढ़ने की क्षमता जब बालक में आ जाएगी तब वह इन आवाजों वाली पेटियों को क्रम में जमाएगा। यह विधि भी ऊपर वाली छाया-रंगों को क्रमिक रूप से रखने की विधि से मिलती-जुलती है। उपर्युक्त रीति से डिबियों को कान के पास हिला-हिला कर भारी आवाज से लेकर बारीक आवाज तक की डिबियों को एक क्रम से सजाना है।

शिक्षक को एक बार यह क्रिया प्रदर्शित करके बतानी है। फिर तो बालक स्वयं इनका पुनरावर्त्तन करेगा। आगे चलकर बालक आँखों पर पट्टी बांधे और यह खेल खेले। इससे उसकी एकाग्रता बढ़ेगी।

दूसरा साधन

अब दूसरा साधन लें, यह है शान्ति की क्रीड़ा। इस साधन की महत्ता अद्भुत है। यद्यपि इसे प्रबोधक साहित्य की गणना में

शामिल नहीं किया जा सकता, तथापि सुव्यवस्था के लिहाज से प्रबोधक साहित्य की चर्चा में इसके सम्बन्ध में यहां लिखा जा रहा है।

यह एक ऐसी क्रीड़ा है कि जिसके द्वारा वर्तमान शालाओं में जो साधारण शोर-शराबा चल रहा है उसके स्थान पर एक सुन्दर शान्त वातावरण निर्मित होता है इस क्रीड़ा के द्वारा ध्वनियों का पारस्परिक सम्बन्धों की ओर बालक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित होता है और बालकों को शिक्षण मिलता है।

हम देखते हैं कि शालाओं के छोटे बच्चे कक्षा के कमरों में जोर-जोर से शोर मचाकर तथा चीजों को इधर-उधर बिखेर कर शाला के वातावरण को अशान्त कर देते हैं, उसे कोलाहल से भर देते हैं। ऐसे में लगता ही नहीं कि शान्ति कभी सम्भव हो भी सकेगी। यह स्थिति शाला के बाहर घरों और गलियों में भी देखने में आती है। पर इस शान्ति की क्रीड़ा से तो बालक का कान ध्वनि के प्रति इतना चोकन्ना हो जाता है कि उसे हल्की से हल्की आवाज भी सुनाई देने लगती है और वह आवाज एवं ध्वनि के बीच का अन्तर समझने लगता है। इस क्रीड़ा से बालक यह बात समझने लगता है व्यवहार की सुन्दरता किसमें है और परिणामतः बालक संयमी और स्वाधीन बनने लगता है। उसका कान इतना सध जाता है कि कर्कश व कठोर आवाज उसे सहन भी नहीं होती। इसके विपरीत मीठे व कोमल स्वर सुनने में अच्छे लगते हैं।

यह शान्ति की क्रीड़ा तो एक ऐसी प्रवृत्ति है कि जिन विद्यालयों में मोंटेसरी पद्धति नहीं चलती, वहां भी इसे प्रयुक्त किया जाता है और परिणामतः उससे व्यवस्था एवं शान्ति फैलाने में मदद मिली है।

शांति की क्रीड़ा में पहली आवश्यकता है बालक अपने पूरे शरीर को पूरी तरह से स्थिर करके बैठें। इसके लिए बालकों को स्थिर

रहना याने जरा भी न हिलना सिखाया जाए। बालक अगर किसी कारण से शरीर को हिलाना-डुलाना चाहे तब भी उसे रोका जाना चाहिए। इसके लिए उसे शिक्षा देने की जरूरत है। बालकों को 'स्थिर बैठ जाओ' यों आदेश देकर स्थिर नहीं बनाया जा सकता। शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को व्यावहारिक आचरण में ढाल कर बताये कि सम्पूर्ण स्थिरता से बैठने का अर्थ है पैरों को स्थिर रखना, शरीर स्थिर रखना, हाथ, सिर आदि स्थिर रख कर कैसे बैठना और कैसे खड़ा रहना। बालकों को यह बताने की जरूरत है कि हवा में एक उंगली चलाने की या धीमे-धीमे सांस लेने की भी आवाज होती है। इतना बताने पर तो बालक अपने आप भेद समझ जाएंगे और सीख जाएंगे।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि 'मैं अपनी तरफ बालक का ध्यान खींचती हूं और उससे कहती हूं : 'देखो मैं शान्त और स्थिर रह सकती हूं।' तब मैं उनको बैठ कर बताती हूं, खड़ी रहकर बताती हूं। ऐसे समय में जरा भी हिलती-डुलती नहीं—इस बात की तरफ बालक का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती हूं। मैं ध्वनि किये बिना सांस लेकर बताती हूं—सम्पूर्ण स्थिर और शांति से यह सब क्रिया करके बताती हूं। तब मैं एकाध बालक को बुलाती हूं उससे मेरा अनुकरण करके बताने को कहती हूं। बालक अपने पैर समेटता है कि उससे आवाज होती है। वह अपने हाथ थोड़े से हिलाता है, पर उससे कुर्सी खटखट आवाज करने लगती है। उसका श्वासोच्छ्वास भी थोड़ी-बहुत आवाज करता है। बालक सम्पूर्ण स्थिर नहीं रह सकता। मैं बालकों का शोर की तरफ ध्यान खींचती हूं। उनको यह दृश्य नवीन लगता है और उन्हें पता लगता है कि अनजाने में वे कितना शोर मचाते हैं। अब उनको सम्पूर्ण शान्ति का अनुभव होता है। उस समय मैं कमरे में इतनी

स्थिरता व शान्ति से खड़ी रहती हूं मानो मैं वहां हूं भी नहीं—बालक मेरी ओर आश्चर्य से देखते हैं। तब वे मेरा अनुकरण करने लगते हैं। यही नहीं, वे मुझसे अधिक शान्ति रख सकते हैं। गलती से अगर किसी का पैर हिल जाता है तो मैं संकेत मात्र से उसका ध्यान खींचती हूं और वह सावधान हो जाता है। स्थिर रहने के प्रयत्न में लगने पर बालक अपने प्रत्येक अंग की स्थिरता पर बहुत ध्यान देते हैं।

इस तरह जब बालक शांत होने का प्रयत्न करने में लीन होते हैं तब कमरे में जो शान्ति फैलती है वह कुछ अद्‌भुत ही होती है। हम जिस साधारण अर्थ में शान्ति कहते हैं, वह शान्ति यह नहीं है। धीरे-धीरे हमें यह लगने लगता है कि कमरे की सम्पूर्ण चेतनता जैसे चली गई, मानो वह एकदम खाली हो, जैसे अब उसमें कोई न हो ! शान्ति के इस साम्राज्य में, पहले हमको जो कुछ सुनाई नहीं देता था, वह अब सुनाई देने लगता है। हमारे कानों में घड़ी की टिक्-टिक् साफ सुनाई देती है और जैसे-जैसे शान्ति सघन होती जाती है वैसे-वैसे घड़ी की आवाज बहुत तेज लगने लगती है। बाहर भी दूर-दूर से, जहां से अब तक एक भी आवाज कान में नहीं पड़ी थी वहां का कोलाहल भी कानों में पड़ने लगता है। कोई पक्षी पंख फड़फड़ाता है या चिड़िया चीचीं करके फुर्र से उड़ जाती है या कोई बालक आहिस्ते-से निकल जाता है, ये सब बहुत साफ सुनाई देने लगते हैं। बालक इस अगाध शान्ति में, अपनी किसी अंत:शक्ति के प्रभाव से जैसे सराबोर हो जाते हैं। वे मन्त्र-विमुग्ध होकर बैठे रहते हैं। उस समय मैं बोलती हूं : 'लगता है यहां कोई भी नहीं। सब के सब बाहर चले गए दिखते हैं।' उस पर खिड़कियों पर पर्दे लगा कर कमरे में अन्धेरा किया जाता है। बालकों को अपनी आंखें बन्द करने को अथवा अपने हाथों से आँखें ढक लेने को कहा जाता है।

'अब तो दुगुनी शान्ति छा जाती है। चारों तरफ शान्ति, शान्ति, शान्ति। यह शान्ति बालकों को बहुत अच्छी लगती है। वे किसी जादू के वशीभूत बैठे नजर आते हैं। उनकी शान्ति परम-तत्त्व का ध्यान लगाने जैसी है। जिस तरह सूर्यास्त के समय की संध्या, जैसे-जैसे सूर्य अस्त होता जाता है, वैसे-वैसे अधिक गंभीर बनती जाती है, उसी तरह जैसे-जैसे बालक अधिक से अधिक स्थिर बनते जाते हैं वैसे-वैसे शान्ति गंभीर से गंभीरतम होती जाती है। ऐसे में बारीक से बारीक स्वर या जो स्वर पहले सुनाई नहीं देते थे वे बहुत तेज बन कर सुनाई देते हैं। किसी पतिंगे के पंखों की फड़फड़ाहट भी सुनाई दिये बिना नहीं रहती। और फिर यह पंखों की फड़फड़ाहट शान्ति के वातावरण में ठीक वैसे ही अभिवृद्धि करती है जैसे अंधेरी रात में चमकते तारे रात्रि के अंधेरे में अभिवृद्धि करते हैं।

'ऐसे समय बालकों को एक नई ही दुनिया का अनुभव होता है। उन्हें एक नई ही दुनिया हाथ लगती है, जिसमें शान्ति है, आराम है, विश्राम है।'

ऐसी महिमा है शान्ति की क्रीड़ा की।

शान्ति के इस वातावरण में तरह-तरह की तेज-धीमी आवाजों की तरफ बालकों का ध्यान खींच कर उनके कानों का शिक्षण किया जा सकता है। इसी समय उनके कानों की परीक्षा भी की जाती है। घड़ी की टिक्-टिक् आवाज, धीमे स्वर में बालकों को बुलाना आदि बालकों के कानों की परीक्षा के माध्यम हैं।

जब ध्यान की क्रीड़ा बन्द होने का समय आया तो डॉ. मोंटेसरी ने सभी बालकों को अपने पास उनके नाम ले-ले कर बुलाया। सबों के नाम पूरे हो जाने पर खेल समाप्त हुआ। इस

खेल को डॉ. मोंटेसरी के शब्दों में ही जानना अधिक आनंददायी होगा ।

'फिर हम कहते हैं कि 'सुनो ! एक मधुर-सी आवाज तुमको बुलाएगी ।' तब मैं पास के कमरे में जाकर दोनों कमरों के बीच की दहलीज पर खड़ी होकर धीमे स्वर में–मानो कहीं दूर पहाड़ों में होऊं इस तरह से एक-एक अक्षर अलग-अलग बोलते हुए बालक को पुकारती हूं । मेरी आवाज बालक को स्पर्श करती है और उसकी आत्मा में गूंजती है । बालक सुनते ही अपना सिर ऊपर उठाता है, अपनी आंखें खोलता है, बिना आवाज किये खड़ा होता है और फिर पैरों के पंजों पर बिना आवाज किये चलता है । फिर भी शान्ति का ऐसा वातावरण होता है कि बालक के पैरों की आवाज प्रतिध्वनित होती है और फिर शान्ति छा जाती है ।

'आनंदित चेहरे से बालक बाहर तक आकर कमरे में कूदता है और दूसरों को बाधा न पहुंचे इस ख्याल से अपनी हंसी रोकने का प्रयत्न करता है । इसके पश्चात् एक के बाद एक बालक मेरे पास आता जाता है । जिस बालक को पुकारा जाता है उसे लगता है कि उस पर विशेष कृपा हुई है। कोई विशेष भेंट दी गई है । सभी बालकों को भरोसा रहता है कि उनको बुलाया जाएगा । सबसे पहले उस बालक को बुलाया जाता है जो पूरी कक्षा में सबसे अधिक शान्त रहा था । प्रत्येक बालक स्वयं को पुकारे जाने की उम्मीद में शान्ति से प्रतीक्षा करता रहता है । अपनी शान्ति के बदले में वे मेरी वाणी की आतुरता से प्रतीक्षा करते रहते हैं । शान्ति रखने के प्रयास में मैंने एक बालक को अपनी छींक रोकते देखा है । उसने अपनी सांस को अपने सीने में रोके रखा और आश्चर्यपूर्ण प्रयत्न करके जीत हासिल की । उसके आतुर चेहरे को देखकर—उसकी अक्षय धैर्ययुक्त स्थिरता को देखकर हम अन्दाज लगा सकते हैं कि

उसे यह क्रीड़ा कितनी प्रिय होगी ! शुरू शुरू के दिनों में जब मैं बालक की आत्मा को पहचान न सकी थी, तब खेल के समय शान्ति रखने की भरपूर कोशिश करने के लिए कि जिस बालक का नाम पुकारा जाए वह शान्ति से मेरे पास आए, इसलिए मैंने मिठाई व खिलौनों की योजना बनाई थी । मैंने सोचा था कि इनाम के वशीभूत होकर बालक शान्ति रखने का जरूरी प्रयत्न करेंगे । पर तत्काल मैंने महसूस किया कि मिठाई और इनाम आदि सब बेकार की चीजें हैं । बालक तो बल्कि शान्ति में ही आनंद का अनुभव करते थे । शान्ति का अनुभव ही उनके लिए कोई उपहार या बख्शीश थी । इन्होंने शान्त रहने में जो अंकुश लगाया था, वही उनकी वास्तविक प्राप्ति थी । उन्हें मिठाई या खिलौनों की आकाँक्षा ही नहीं थी। मैंने मिठाई और खिलौनों को फेंक दिया । बालकों पर अपने पर इतना सुन्दर ढंग से अंकुश लगाया था कि जब तक सभी बालकों की बारी न आ गई, तब तक सब के सब— तीन-तीन वर्ष की छोटी आयु के बालक तक पूरी शान्ति से बैठे थे ।

'उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि बालक को अपनी आत्मा का अनुभव प्राप्त होना ही उनके लिए बहुत बड़ा उपहार है । उस आत्मानुभव में कैसा अद्‌भुत दैवी आनंद होगा, यह ज्ञान तो मुझे उक्त घटना से ही प्राप्त हुआ । इस खेल के बाद ही बालक मेरे अधिक पास आए, वे अधिक आज्ञापालक बने, अधिक नम्र और अधिक मृदु बने । यह खेल खेलते समय हमारे हाथ एक-दूसरे का स्पर्श कर रहे थे । मैं उनसे मिलने को तरसती थी और उन्हें बुलाती थी; वे मेरी आवाज सुनने की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे । आवाज सुनते ही वे मेरे पास आकर मेरी गोद में बैठ जाते थे । यही हमारे आनंद की अवधि थी ।'

जब से बालक को शान्ति के आनन्द के दर्शन हो जाते हैं तब वे कर्कशता और कोलाहल को सहन नहीं कर सकते। जिन्हें एक बार कोमल स्वरों, आवाजों व ध्वनियों का संसार हाथ लग जाता है वे इस संसार की उठापटक के कोलाहल की भयंकरता को अच्छी तरह से समझ जाते हैं। शान्ति के दर्शन के परिणामस्वरूप उनके सम्पूर्ण जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाता है और वे मृदुलता से व्यवहार करने लगते हैं। कहीं फर्नीचर टूट न जाए, इसका वे सहज ही ध्यान रखते हैं और चीजों को उनके सही स्थान पर संभाल कर रखते हैं। उनमें जो मधुरता और सुकोमलता आती है वह सिखाने से आने वाली नहीं : दुनिया के लिए या सुन्दरता के खातिर यह माधुर्य उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु शान्ति के वातावरण में उद्भूत आत्मानंद एवं आत्मिकता से ही यह मधुरता, कोमलता व सुन्दरता उद्भूत होती है। इस तरह से जिन बालकों ने शान्ति का आस्वादन कर लिया उनको कोलाहल पीड़ादायी लगता है और शान्ति की प्रवृत्ति में पड़ने वाला विघ्न दुःख पहुंचाता है।

शान्ति की क्रीड़ा में स्पष्टतया सामाजिक जीवन की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे पाठों में अथवा परिस्थिति में यह अनुकूलता नहीं मिलेगी। चालीस-पचास बालक किसी छोटे-से कमरे में शान्तिपूर्वक तभी बैठ सकते हैं कि जब उन्हें शान्ति से बैठना आ जाए और शान्ति से बैठने की इनकी इच्छा हो। ऐसे कमरे में एकाध गड़बड़ी करने वाला बालक हो तो पूरी शान्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है और सबों का मजा किरकिरा हो जाता है। रंग में भंग हो जाता है। यहां एक सर्वमान्य कार्य करने के लिए एकत्र हुई मंडली के सभासदों के सहयोग का सबक देखने में आता है। दिनों-दिन बालक अधिक संयमी होते जाते हैं। दूसरों को बाधा पहुंचेगी, इस चिन्ता से बहुत से बालक अपने नाक पर बैठी मक्खी तक को

नहीं उड़ाते अथवा खांसी या कफ को रोक लेते हैं। बालक अपना काम करते समय जो शान्ति रखते हैं, वह शान्ति उपर्युक्त क्रीड़ा में आने के बाद संयम का प्रतिबिम्ब बन जाती है। अगर सम्पूर्ण वातावरण शान्त और विघ्न-रहित रखना चाहते हों तो बालक में अपने पंजों के बल चलने के, धीमे-से दरवाजा बंद करने के तथा चीजों को बिना खटपट किये रखने के गुण आने ही चाहिए। इसके लिए शिक्षा दी जानी जरूरी है। अगर सारे बालक व्यवस्थित हों और उनमें एक भी निकम्मा बालक निकल गया तो वह सारे वातावरण को बिगाड़ देगा। पैरों को पछाड़ते हुए चलने वाला या शोर मचाने वाला बालक इस नन्हीं-सी मंडली की शान्ति विनष्ट करने के लिए काफी है। एक बार एक बालगृह के बालकों को डॉ. मोंटेसरी ने शान्ति का पाठ किस तरह पढ़ाया था, यह वर्णन हम उन्हीं के शब्दों में पढ़ें :

'एक बार जब मैं रोम के एक बालगृह में बैठती थी, तब एक माता से मिलना हुआ था। माता के हाथ में एक चार माह का बालक था। बालक शान्ति की मूर्ति था। मैंने उसे लिया। उसकी शान्ति और सौजन्य अखंड थे। मैं उसे लेकर शाला के कमरे की तरफ जा रही थी, कि तभी बालक दौड़े-दौड़े आए। वे हमेशा इसी तरह मुझसे मिलने आते थे। वे अपनी बाहें मेरे गले में डाल देते थे, मेरे कपड़ों से लिपट पड़ते थे और आतुरता में मेरे ऊपर भी पड़ जाते थे। मैंने उनको नन्हा-सा वह बालक दिखाया और उनकी तरफ देखकर मुस्करा दी। वे मेरे मन के भावों को समझ गए, जरा पीछे खिसके और मेरे चारों ओर उछलने-कूदने लगे, और अपनी स्नेहयुक्त रोशन नजरों से मेरी ओर देखने लगे। मैं अन्दर गई तो बालकों का घेरा मेरे साथ-साथ चला। हम सब बैठ गए। मैं एक बड़ी कुर्सी पर गम्भीर होकर बैठ गई। दूसरे बालक

इस नन्हें बच्चे को आनन्द व स्नेह से देख रहे थे। अभी हम में से कोई भी एक भी शब्द नहीं बोला था। अन्त में मैंने कहा, 'मैं आज तुम लोगों के लिए एक नन्हा-सा शिक्षक लाई हूं।' सुनते ही चारों तरफ आश्चर्य भरी नजरों से देखना और हँसना-खिलखिलाना शुरू हो गया। मैंने फिर कहा : 'सचमुच, एक नन्हा शिक्षक लाई हूं। कारण यह है कि तुम लोगों को अभी उतनी शान्ति रखना नहीं आता, जितना इसे रखना आता है।' सुनते ही सारे बालक शान्त-स्वस्थ होकर बैठ गए। मैं बोली: 'तुम लोग शान्ति से बैठे हो, पर इस नन्हें शिक्षक ने जितनी स्थिरता से अपने हाथ-पैरों को समेट रखा है, उतनी स्थिरता से तुम्हारे में से किसी ने भी स्थिर नहीं रखे।' तत्काल सबने अपने हाथ पैरों की तरफ देखा और पहले से अधिक स्थिर हो गए। मैंने मुस्कुराते हुए उनकी तरफ देखकर कहा : 'पर तुम लोग इसके जिसने स्थिर नहीं हो सकते। देखो तो सही, यह तो जरा भी नहीं हिलता।' बालक गंभीर हो गए। सब के सब उस नन्हें बालक की स्थिरता के बारे में सोच रहे थे। तभी मैंने कहा, 'यह नन्हा बालक जितना चुप है, निःशब्द है, उतने चुप तुम नहीं रह सकते।' सर्वत्र शान्ति फैल गई। मैं बोली : 'पर तुम इसके जितने शान्त तो हो भी नहीं सकोगे, क्योंकि देखो, इसका श्वासोच्छ्वास कितनी नाजुकता से चल रहा है? तुम पंजों के बल चल कर मेरे पास धीमे-धीमे आओ। मैं तुम्हें बताती हूं।' कई बच्चे खड़े हुए और धीरे-धीरे मेरे पास आए। मैंने कहा : 'देखो, यह बालक जितनी धीमी गति से सांस ले रहा है, उतने धीमे तुम में से कोई नहीं ले सकेगा।' बालक चकित भाव से इधर-उधर देखने लगे। उन्हें कभी पता भी नहीं चला था कि जब वे शांत बैठे होते हैं तब भी उनसे गड़बड़ी होती है। उन्हें लगा कि इस नन्हें बालक की शान्ति तो बड़ों से भी गम्भीर है। बालक गम्भीर

हो गए। उन्होंने सांस लेना भी रोक दिया। मैं खड़ी हुई, बोली : 'धीरे धीरे बाहर चलो। पंजों के बल चलना, आवाज न करना।' मैं फिर से उन्हें बाहर जाते देखकर बोली : 'थोड़ी-थोड़ी आवाज सुनाई दे रही है मुझे। देखो न, नन्हा बालक मेरे साथ चल रहा है और इसके पैरों की आवाज ही सुनाई नहीं देती।' बालक मेरी तरफ देखकर मुस्करा दिये। वे मेरे कथन की सचाई और विनोद दोनों को समझ गए थे। मैं बाहर गई और नन्हें बालक को उसकी माता के हाथों में सौंप दिया।

'इस घटना ने उन बालकों की आत्मा में अद्भुत जादू भर दिया। सच पूछो तो इस प्रकृति में नवजात शिशु के शांत श्वासोच्छ्वास से अधिक मधुर और कुछ नहीं है। शान्ति तथा आराम में बल और जीवन की नूतनता हम में भर देने वाली मानव-जीवन (बालक) की यह भव्यता सचमुच अवर्णनीय है। इस शान्ति की तुलना में वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखी गई प्रकृति की महिला क्रांतिहीन और निर्बल है। जिस प्रकार वर्ड्सवर्थ को प्रकृति की शांति से कविता मिली थी उसी प्रकार बालकों को इस नूतन मानव जीवन की शान्त शान्ति से काव्य और सौंदर्य दोनों मिले थे।'

वजन मापने वाली इन्द्रिय का शिक्षण

साधन

प्रत्येक पेटी में लकड़ी की नौ तख्तियां होती हैं। प्रत्येक तख्ती 6×8 सेंटीमीटर आकार की है। तख्ती की मोटाई $\frac{1}{2}$ सें. मी. है। प्रत्येक पेटी की तख्ती अलग-अलग तरह की लकड़ी की बनी है, पर ऊंचाई में और देखने में एक-जैसी है। तख्ती की लकड़ी क्रमशः विक्टेरिया, बोलनट तथा पाइन की है। पहली पेटी 12 ग्राम की, दूसरी पेटी अठारह ग्राम की और तीसरी पेटी चौबीस ग्राम की है। इस प्रकार प्रत्येक पेटी की तख्तियां वजन और रंग में अन्य पेटी की

तख्तियों से भिन्न हैं। सभी तख्तियां अत्यंत सुन्दर तथा लकड़ी के कुदरती रंग को हैं—होनी चाहिए।

साधन के उपयोग की विधि

शिक्षक सर्वप्रथम दो अलग-अलग वजन की तख्तियां अपने हाथ में ले। फिर वह उन तख्तियों को अपनी हथेली के पास वाली उंगलियों के पोरों पर उठा ले। बाद में हाथ को ऊंचे-नीचे करने से वजन का अन्दाज लगाया जा सकता है, ऐसा भाव वह अपनी दृष्टि से बालकों में पैदा करे, याने वह बालक को इसका प्रदर्शन करके दिखाए। इसके पश्चात् बालक का हाथ लम्बा करवा कर उसकी खुली हथेली के पास वाली उंगलियों के पोरों पर वह हल्की और भारी तख्तियां रखे और उन्हें ऊंचे-नीचे करके बालक को वजन का अनुमान लगाना बताये।

हथेली हिलाने से जब बालक को यह अनुमान लग जाएगा कि कौनसी तख्ती हल्की है और कौनसी भारी, तो वह यह बात समझने लगेगा कि वजन के कारण कौन-कौनसी तख्तियां भिन्न-भिन्न हैं। शुरुआत में तौल करते समय हथेलियां काफी ऊंची-नीची रह जाएंगी, पर धीमे-धीमे हथेली हिलाने का काम इतना धीमा करना होगा कि हथेली के हिलने का पता ही न चले। शुरुआत में कदाचित रंग के फर्क की वजह से वजन का फर्क परखना आसान लगे, पर उसकी कोई चिंता नहीं। बाद में जब इसमें आनंद आने लगेगा तो बालक इन पेटियों में से आंखों पर पट्टी बांध कर स्वयं खेल खेलने लगेगा।

एक साथ दो पेटियों की तख्तियां इकट्ठी करके उनके वजन के अनुसार आंखों पर पट्टी बांध कर उन्हें अलग-अलग कर डालने का खेल बालक रुचि से खेलते हैं। इससे आगे बढ़कर तीनों पेटियां इकट्ठी करके भी खेल खेला जा सकेगा।

स्वादेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय का शिक्षण

इन इन्द्रियों के संबंध में डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि इनके शिक्षण का काम अत्यन्त मुश्किल है। अभी तक इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग नहीं हो पाए हैं। छुटपन में घ्राणेन्द्रिय का सही विकास नहीं हुआ होता, इस वजह से इस इन्द्रिय का ध्यान खींचना कठिन होता है। हमने एक प्रयोग किया था। पर उसके बारे में हम अभी निश्चित रूप से कुछ विशेष कहने की स्थिति में नहीं हैं। हमने बालक को ताजे वायोलेट और जेस्मीन के फूल सुंघाए। उसके पश्चात् उसकी आंखों पर पट्टी बांध कर उससे कहा कि अब तुझे फूल सुंघायेंगे। तब उसकी नाक के सामने एक के बाद एक फूलों के झूमके रखे और उससे पूछा कि फूलों के नाम बताये। फूलों की खुशबू को घटाने-बढ़ाने के लिए हमने फूलों की संख्या कम-ज्यादा की। इस तरह का घ्राणेन्द्रिय शिक्षण रसोई में अच्छी तरह से दिया जा सकता है।

स्वाद के लिए तरह-तरह के कड़वे, खारे, मीठे, मधुर, कसैले और प्रवाही को जीभ से छुआ कर इनका अनुभव कराया जा सकता है। छोटे बच्चों को यह खेल पसंद आता है। बालक इन द्रवों का स्वाद लेने के पश्चात् मुंह को पानी से कुल्ले करके साफ करते हैं। इससे उनमें स्वच्छता की आरोग्यदायी आदत विकसित होती है।

सामान्य विवेक

इन्द्रियों के शिक्षण को साधने के लिए प्रत्येक साधन को लेकर निम्न क्रम का अनुसरण किया जाए।

पहले साम्य, फिर विरोध, और फिर क्रम। इस ढंग से साधनों का परिचय देना आवश्यक है। जब गट्टों को खानों में डाला जाता है, तब साम्य की क्रिया चलती है; इन्हें एक सिरे

से दूसरे सिरे तक जमा देने में क्रम आ जाता है; और पहले व आखिरी गट्टे में विरोध का भाव सामने आता है।

एक और उदाहरण। रंग की तख्तियों के जोड़े बनाने में साम्य का शिक्षण है; छाया-रंगों को सजाने में क्रम का शिक्षण है, तथा छाया-रंगों के क्रम को समझने में विरोध का शिक्षण अपने-आप आ जाता है। चिकने, खुरदरे पट्टे पर विरोध का शिक्षण स्पष्टतापूर्वक बताया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक साधन में तीनों चीजें (साम्य, विरोध व क्रम) कहां विद्यमान हैं, यह तलाश करना है। इसी क्रम से चल कर हमें बालक को इन्द्रिय-शिक्षण देना है।

इन्द्रिय-शिक्षण साधते समय एक और बात ध्यान देने की है। जिस समय एक इन्द्रिय का शिक्षण देने के लिए उनके उत्तेजक पदार्थ बालक के पास रखे जाएं, उस समय दूसरी इन्द्रिय सम्बन्धी व्यापार हमें बन्द कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ, दृश्येन्द्रिय के शिक्षण को छोड़ कर शेष सभी इन्द्रियों का शिक्षण देते समय आंखों पर पट्टी बांध कर उसके व्यापारों को बन्द कर देना चाहिए। हम चाहे जिस इन्द्रिय का शिक्षण दे रहे हों, शोर-शराबे और कोलाहल को दूर ही रखा जाना चाहिए, अर्थात् प्रयोग की भूमि पर पर्याप्त शान्ति रहनी चाहिए।

जो लोग बालकों को इस पद्धति से संस्कारित करने में रुचि रखते हैं उन्हें स्वयं इन्द्रियों की शिक्षा देने वाले सभी साहित्य बालकों की दृष्टि से काम में लाने चाहिए। ऐसा करने से उन्हें पता लगेगा कि बालकों को कैसा अनुभव होगा, उन्हें कैसी-कैसी कठिनाइयां आएंगी, इन साधनों से बालकों को किस हद तक कैसा आनंद प्राप्त होगा। इन साधनों का अनुभव प्राप्त करने से उन्हें विश्वास हो जायेगा कि जब आंखों पर पट्टी बांध कर स्पर्श एवं श्रवण को संस्कारित करने वाले साधनों को काम में लाने के लिए बैठते हैं

तब स्पर्शजन्य तथा श्रवणजन्य अनुभव अधिक तीव्र व स्पष्ट तथा अधिक सहजता से जानने में सक्षम ज्ञात होंगे। प्रयोगकर्त्ता इतना अनुभव स्वयं अर्जित करेगा तो उसे अपने प्रयत्नों में बहुत आनंद प्राप्त होगा।

□